प्रकाशक—
सन्मति-ज्ञान-पीठ,
लोहामंडी, आगरा।

प्रथम बार १०००
दिसम्बर १९५५
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक—
विजय आर्ट प्रेस,
नौबस्ता, आगरा।

विचार-दर्शन

मनुष्य क्या है ?

भारत के महापुरुषों, ऋषि-मुनियों, आचार्यों और धर्म-शास्त्रों ने एक स्वर से मनुष्य की गौरव-गाथा का गान किया है। मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है? मनुष्य में ऐसी क्या विशेषता है? किस कारण से वह स्पृहणीय समझा जाता है? क्या इस सप्त धातुओं के बने शरीर के कारण? मनोरम इन्द्रियों के कारण? मिट्टी के इस ढेर के कारण? उत्तर में एक बार नहीं, हजार बार 'नकार' कहना होगा। मनुष्य का शरीर पाकर भी जिसने मनुष्य का-सा जीवन नहीं पाया, उसने कुछ नहीं पाया। और जिसने मानव-तन के साथ मानव-जीवन भी पाया, वह कृतकार्य हो गया!

इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य केवल मरणधर्मा हाड-मांस का पुतला नहीं है। वह इससे बहुत बड़ी वस्तु है। मनुष्य जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा उसका व्यक्तित्व है और उतना ही बड़ा उसका दृष्टि-कोण? अध्यात्मिक उत्कर्ष की जितनी भी साधनाएँ हैं, उन सब का स्रोत मनुष्य की ओर ही प्रवाहित होता है। सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा और कर्त्तव्य की जो भी भूमिकाएँ हैं, उन सबका उदय तथा परिपाक इसी जीवन में संभव है। अतः मनुष्य की परिभाषा है—

"मननात् मनुष्यः"

जो मनन करता है, विचार करता है, वह मनुष्य है। निघंटु-कार यास्क मुनि भी इसी स्वर में बोल रहे हैं—

"मत्वा कार्याणि सीव्यन्तीति मनुष्याः।"
—जो विचार कर कार्य करते हैं, वे मनुष्य हैं।

दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक अन्तर्जागरण के लिए विचार अंगड़ाई नहीं लेते, मनुष्य बनकर मनुष्य के ढंग से सोच-विचार नहीं किया जाता, जीवन के प्रत्येक मोड़ पर अन्तर्विवेक का प्रकाश नहीं जगमगाता, क्या बनना है, क्या करना है, जीवन को किस सांचे में ढालना है, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति मेरे क्या दायित्व हैं, और उन दायित्वों को मैं कहाँ तक सहन कर रहा हूँ? जब तक यह विचार-दिशा साफ नहीं होती; तब तक कुछ होता-जाता या बनता-बनाता नहीं है जीवन में।

संक्षेप में, मनुष्य वह है, जो मननशील है, चिन्तनशील है, विचरशील है। जो अपने जीवन की गहराई भी नापने चले और दूसरे के जीवन की गहराइयों को भी नापने का प्रयत्न करे! अपने विषय में भी विचार करे और आस-पास में जो एक दुनिया है, समाज और राष्ट्र है; उसके सम्बन्ध में भी विचार-चिन्तन करे। अपने जीवन के रहस्यों को भी खोजने का यत्न करे और समाज एवं राष्ट्र के जीवन-तत्त्वों की गवेषणा करने में भी तत्पर रहे। क्योंकि पशुओं के समान मनुष्य में केवल जीवन की प्रवृत्ति ही नहीं होती, दिमाग का मालिक होने के कारण वह लम्बा विचार भी कर सकता है। अतः भारत के एक मनीषी आचार्य ने कहा है—"आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये प्रवृत्तियाँ तो सब शरीर-धारियों में समान हैं। मनुष्य में केवल विचार की ही विशेषता है। विचार-हीन मनुष्य पक्षी और पशु के समान है। अतः मनुष्य को विचार-परायण होना चाहिए—

"आहारनिद्रादि समं शरीरिषु, वैशेष्यमेकं हि नरे विचारणम्।
तदुज्झितः पक्षि-पशूपमः स्मृतः, तस्माद्विचारैकपरायणो भवेत्॥"

महापुरुषों की देन

कोई भी महापुरुष, धर्म अथवा राष्ट्र का नेता समाज तथा राष्ट्र को क्या देता है? यह एक महान् प्रश्न है जीवन का। जरा गहराई से विचार करने पर विदित होगा कि जीवन का कोई बना-बनाया सौदा महान् पुरुषों के पास नहीं होता, जिसकी वे पुड़िया बाँधकर जन-जन को देते चले जायँ! मनुष्य की विचार-बुद्धि पर जब जंग चढ़ जाता है, उसके विचार-कोणों पर स्वार्थ, मोह एवं अज्ञान का गहरा काला रंग छा जाता है; तब उस भूले-भटके मानव के विचार को जिन्दगी की सही-सच्ची दिशा की ओर एक नया मोड़ देने के लिए ही उन ज्योति-पुरुषों का अवतरण होता है जन-मंच पर। मनुष्य के अन्दर जो विचार-प्रवाह बहता रहता है, उसे अपनी विचार-कला के द्वारा प्रशस्त मार्ग की ओर घुमा देना ही उनके जीवन का उद्देश्य होता है। व्यक्ति के विचारों को एक नया मोड़ मिलते ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की जिन्दगी एक नई अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी होती है, एक नयी उथल-पुथल मच जाती है और बात-की-बात में समाज और राष्ट्र के जीवन का कायाकल्प हो जाता है।

भगवान् महावीर और बुद्ध ने क्या दिया था संसार को? अहिंसा, सत्य, समानता, बन्धुता और कर्तव्य-शीलता का विचार-सन्देश ही तो दिया था उन महान् युग-नायकों ने मानव-जगत् को; जिसने समाज और राष्ट्र के ओर-छोर तक उथल-पुथल की क्रान्ति मचाकर मनुष्य को जीवन के एक नये मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया था!

और, गाँधी जी की क्या देन है विश्व को ? हिंसा की शक्ति से टक्कर लेने के लिए उस राष्ट्र-पिता ने सत्याग्रह द्वारा अहिंसक विचार-क्रान्ति का ही तो बीजारोपण किया था जन मन में; जिसके पुण्य प्रभाव से राष्ट्र में स्वाधीनता का मंगल प्रभात आया !

और, संत विनोबा भी क्या दे रहे हैं आजकल जनता को गाँव-गाँव में पैदल घूम-घूमकर ? भूदान, सम्पत्ति-दान और जीवन दान के द्वारा एक प्रबल अहिंसक विचार-क्रान्ति का ही तो सूत्रपात कर रहे हैं वे जन-जन के मन-मन में !

और विश्व-शान्ति के अग्रदूत पंडित नेहरू विश्व की राजनीति को क्या प्रदान कर रहे हैं आजकल ? बांडुंग सम्मेलन के मंच से उन्होंने 'पंचशील' के रूप में एक नये ढंग की विचार-दिशा ही तो दी है, जिसने विश्व के मन-मस्तिष्क को हिला दिया है और समूचे विश्व की राजनीति को एक नया मोड़ दे दिया है !

विचार-क्रान्ति का चमत्कार

गाँधी जी ने एक बार कहा था—"तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। उनमें पहला स्थान मैं रायचन्द कवि को देता हूँ, दूसरा टाल्सटाय को और तीसरा रस्किन को। ......टाल्सटाय के 'नव विधान का सार' (गास्पेल इन बीफ) 'क्या करें' (ह्वाट टू डू) आदि पुस्तकों ने मेरे हृदय पर गहरा असर डाला। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा। किन्तु, उनकी 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है' (किंगडम ऑव हैविन इज विदिन यू) पुस्तक ने तो मुझे मुग्ध ही कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझ पर पड़ी। ......जिस समय यह पुस्तक मैंने पढ़ी, मेरे विचार कई

बातों में शंकाशील थे। कई मर्तबा मुझे नास्तिकता के विचार भी आते थे। विलायत जाने के समय तो मैं हिंसक था; हिंसा पर मेरी श्रद्धा और अहिंसा पर अश्रद्धा थी। यह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी अश्रद्धा चली गई।"

गाँधी जी के इन उद्‌गारों और उनके परिणाम-स्वरूप जीवन के प्रकाश में यह तथ्य एक और एक दो की तरह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने विचारों का मूर्त रूप है। उसका भविष्य उसके वर्तमान विचार में है। मनुष्य अपने सम्बन्ध में आज जो विचार करता है, कल वह ठीक हूबहू वही बन जाता है। मनुष्य का जीवन उसके अपने विचारों का प्रतिबिंब मात्र है। अतः एक दार्शनिक ठीक ही कहता है—"भाग्य का दूसरा नाम विचार है।"

मानव-जाति का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि विचार और संस्कार बदलने पर ही सामाजिक एवं राष्ट्रीय क्रान्ति संभव है। समाज का निर्माण करने से पहले मनुष्य का निर्माण करना अनिवार्य है। जब तक मनुष्य अन्दर से नहीं बदलता, उसके विचार तथा संस्कार नहीं बदलते; तब तक कोई भी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता के सिद्धान्त को लेकर फ्रांस में महान् क्रान्ति हुई; पर आज भी फ्रांस में न समानता है और न बन्धुता है। रक्त-क्रान्ति में प्रति-क्रान्ति के बीज परोक्ष रूप में छिपे रहते हैं; जो अवसर मिलते ही दबे हुए रोग की तरह फूट पड़ते हैं। बाहर से हम चाहे कितना ही परिवर्तन करें, जब तक अन्दर से बुराई की जड़ को नहीं मिटाया जायगा; तब तक शोषण, अन्याय अनीति विषमता, रूढ़िवाद, कुप्रथाओं और जीर्ण परम्पराओं का मूलोच्छेद नहीं हो सकता। संत विनोबा के शब्दों में—"जीवन का मूल्य जहाँ बदलना होता है, वहाँ सबसे पहले विचार-परिवर्तन होता है। उसके बाद हृदय का प्रसंग आता है।

उसके बाद हृदय-परिवर्तन का प्रसंग आता है। फिर साक्षात् जीवन परिवर्तित हो जाता है। पहले व्यक्तियों का, फिर समाज का और सबसे पीछे सरकार का। व्यक्तियों के विचार बदलते हैं, और जैसे बलवान् व्यक्ति समाज में विचार फैलाते हैं, वैसे ही जल्दी समाज में क्रान्ति होती है।"

आचार के लिए शक्ति-स्रोत विचारों पर ही निर्भर रहता है। बौद्धिक विचार हमें सही मार्ग निश्चित करने में सहायक होते हैं। आचार में तेज प्रदीप्त विचारों से ही आता है। सच्चे और यथार्थ विचार सुननेवाले या पढ़ने वाले को अपने आगे का रास्ता बिलकुल साफ दीखने लगता है। विचार-शुद्धि ही तो आचार-शुद्धि का मूलाधार है। समाज की जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था में परिवर्तन आने से पहले विचारों में क्रान्ति और परिवर्तन आना आवश्यक है, अनिवार्य है, प्राकृतिक है। आचार-क्रान्ति के मध्याह्न के लिए विचारों की क्रान्ति उषा के समान है।

संत विनोबा ने आज विचार-परिवर्तन से विचार-क्रान्ति के द्वारा भारत के ओर-छोर को हिला दिया और विश्व का दिल भी इस ओर फिरा दिया है। आखिर, करोड़ों एकड़ भूमि, गाँव के गाँव का दान, सम्पत्ति-दान और जीवन-दान करने के लिए पृथ्वी-पुत्र क्यों तैयार हो रहे हैं? इसीलिए कि तपोधन विनोबा ने जनता के विचार-कोण बदल दिए हैं। वस्तुतः विचारों की शक्ति अणुबम और उद्जन बम से भी अधिक है; जो एक ही झटके में समग्र विश्व के दिल और दिमाग को दहला सकती है।

विचारों का दुर्भिक्ष

दुर्भाग्य से भारत में जहाँ अन्य चीजों का दुर्भिक्ष है, अभाव है, वहाँ विचारों का दुर्भिक्ष भी यहाँ विकराल रूप में मौजूद है।

सीधे, सच्चे, निष्पक्ष, मानवीय गुणों के विकासकारी और व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माणकारी प्रशस्त विचारों का प्रकाश यहाँ विरल रूप में ही उपलब्ध होता है। यत्र-तत्र-सर्वत्र विचारों पर या तो स्वार्थ की काली छाया पड़ी रहती है या उन पर जात-पांत और ऊँच-नीच के भेद-भाव का गहरा रंग चढ़ा रहता है, अथवा उन पर साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, रूढ़िवाद, गुरुडमवाद और निष्प्राण परम्पराओं का कुहरा छाया रहता है। इन गलत, रूढ़ि-पोषक, मानवता-शोषक एवं भेद-भाव से भरे विचारों की बदौलत ही आज मनुष्य ने अपने भाइयों को कष्ट में डाल कर अलग-अलग विभाग बना लिए हैं। निर्जीव परम्पराओं, रूढ़ियों और घिसे-पिटे रीति-रिवाजों की धुंधली रेखाओं को धर्म का अंग मानकर ही मानव आज जीवन की सीधी-सच्ची राह से भूल-भटक गया है। जिसके परिणाम-स्वरूप मानवता, नैतिक चेतना का ह्रास एवं पतन हुआ और समाज तथा राष्ट्र अनाचार एवं भ्रष्टाचार की गन्दगी से सड़ने लगा।

जन-जीवन के आज के स्वरूप में, मानवता में भेद-विभेद बहुत हैं। उन्हीं से समाज, संघ और राष्ट्र में पीड़ा भी बहुत है। विचार-हीनता एवं विचार-दरिद्रता ही समाज की इस अन्ध स्थिति का मूल कारण है, यह एक हजार एक बार असन्दिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है। मनुष्य के विचारों को शुद्ध और सात्त्विक दिशा की ओर एक नया मोड़ देना ही इस रोग का एकमात्र उपाय है। इसीलिए भारत के अणु-अणु में फैली इस विचार-दरिद्रता के रोग को मिटाने के लिए भारत के प्रधानमंत्री पंडित नेहरू राष्ट्र की भावी पीढ़ी से जोरदार अपील करते हैं—"तेज रफ्तार से बदलते हुए इस अणु-युग में जीवित रहने के लिए सोचना-विचारना अत्या-वश्यक है। आज हमारे सामने कितनी समस्याएँ ऐसी हैं, जिन

को हम समझ ही नहीं सकते; जब तक कि हम में विचार-शक्ति न हो। युवकों को विवेकपूर्ण अध्ययन द्वारा अपनी विचार-शक्ति का विकास करना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि आप विचार करें। क्योंकि मानवीय इतिहास के किसी युग में विचार इतना जरूरी नहीं रहा है, जितना वह आज जरूरी है। यों, सोचना-विचार सदा आवश्यक रहा है; परन्तु विश्व तथा हमारे देश के इस संक्रमण काल में वह राष्ट्र के अस्तित्व तक के लिए अत्यावश्यक हो गया है।"

और, इधर हमारे समाज एवं संघ में साम्प्रदायिक विलीनीकरण तथा सामाजिक एकीकरण होने पर भी समाज और संघ के आंगन में गहरा सन्नाटा है। समाज के चारों कोणों में निराशा ही निराशा है। श्रमण-वर्ग तथा श्रावक-वर्ग में विचार-शीलता एवं विचार-सम्पन्नता का अभाव ही उसका मूल कारण है, ऐसा लगता है। विचार-दिशा बदले बिना कोई भी समाज और संघ गति-प्रगति की दौड़ में आगे नहीं बढ़ सकता—यह सौ फीसदी निश्चित है। क्योंकि जीवन में प्राण डालने वाली वस्तु विचार-क्रान्ति ही है, जिसका समाज में प्रायः दुर्भिक्ष-सा ही है।

समाज की एकमात्र आशा

जीवन के उच्च आदर्शों, सामाजिक दायित्वों और कुछ कर गुजरने की भावनाओं के प्रति संघ के कर्णधारों और धर्म के ठेकेदारों की दृष्टि बिलकुल धुंधली है, उन पर परम्परावाद, रूढ़िवाद, जड़वाद और स्वार्थवाद का गहरा काला चश्मा चढ़ा हुआ है। स्वार्थ और परम्परा की माया से अलग हटकर वे कुछ सोच ही नहीं सकते। समाज और संघ के जीवन का सर्वांगीण स्पर्श करने की क्षमता उनमें नहीं है।

ऐसी स्थिति में, समूचे समाज में केवल एक ही महामहिम व्यक्तित्व ऐसा दृष्टिगोचर होता है, जिसे समाज की उज्ज्वल आशा कहा जा सकता है। और वे हैं समूचे समाज के आकर्षण-केन्द्र कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी महाराज। समाज के मंच पर आज वे बेजोड़ हैं। उनके जलते हुए विचारों के प्रकाश के आगे पुराण-तत्त्वों के विचारों का अँधेरा ठहर नहीं पाता। समाज की दुर्बलताओं से प्रेमपूर्वक लड़ने और विचार-संघर्ष करने में उस लौह पुरुष की आत्मा खिल उठती है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—"विचारों को नया मोड़ देने के लिए प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। इसी कारण जब-जब विचार-संघर्ष होता है, तो मुझे आनन्द आने लगता है। जो व्याख्यान सुनने के बाद तुरन्त ही समाप्त हो जाय और जिस प्रवचन से विचारों में नई हलचल तथा कम्पन उत्पन्न न हो, वह किस काम का? कुछ हलचल होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी चाहिए, कुछ संघर्ष होना चाहिए। तभी तो जन-मानस में बद्धमूल भ्रान्त संस्कारों की जड़ें हिलेंगी; तभी तो वे ढीले पड़ेंगे और अन्त में उखड़ कर नष्ट हो सकेंगे।"

विचारक का व्यक्तित्व

विचारों में प्राणवत्ता विचारक के व्यक्तित्व से ही उभर कर आती है। विचारक का व्यक्तित्व जितना गहरा और आकर्षण-शील होगा, उतने ही प्रबल रूप में उसके विचार एवं उद्‌गार समाज, संघ तथा राष्ट्र के अन्तस्तल को चुम्बक की तरह आकर्षित करते हैं।

कविरत्न श्री अमरचन्द जी महाराज समूचे स्थानक-वासी जैन समाज के आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु हैं—यह सूरज के उजेले की तरह

साफ है। जैन-जगती के इस ज्योतिर्धर विचारक और युग-द्रष्टा सन्त के ज्योतिर्मय व्यक्तित्व की समाज-व्यापी चर्चा है। वे आज समाज की आँख, मन-मस्तिष्क तथा शत-शत आशाओं के मेरुमणि हैं। हृदय और मस्तिष्क का सन्तुलन जैसा उनमें दृष्टिगत होता है, वैसा समाज के किसी तत्त्व में नहीं। वे इतने वरिष्ठ, ख्यातनामा एवं विद्वान् सन्त हैं, पर मिथ्याभिमान उन्हें छू तक नहीं गया है। 'सब कोउ मित्र शत्रु नहीं कोउ" ऐसी उनकी वृत्ति है। उनके निकट बैठना-मात्र ही एक प्रकार की सांस्कृतिक दीक्षा लेने के सदृश है। उनका व्यक्तित्व इतना निश्छल, इतना मधुर तथा इतना आकर्षण-शील है कि वह बलात् हमें बहुत-कुछ सीखने के लिए अनुप्राणित करता है। प्रतिभा, ओज और गाम्भीर्य उनमें मूर्त हो उठे हैं। विचार-सम्पन्न, आचार-सम्पन्न, प्रतिभा-सम्पन्न एवं व्यवहार-सम्पन्न होने के साथ-साथ वे उदार-भावना के असीम धनी हैं। उनका उज्ज्वल व्यक्तित्व जन-गण-मन पर अपना अमिट छाप छोड़ता चला जाता है।

प्रस्तुत उपक्रम का मूल्यांकन

आज हमारा समाज, संघ और राष्ट्र विचार-दरिद्र है। आज के अणु-युग में भी वह अनेक निर्जीव परम्पराओं का बोझा ढो रहा है, जीवन का रस सोखने वाली रूढियों और गलत रीति-रिवाजों के शिकंजे में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। समाज की आत्मा में जीवित-जाग्रत चेतना का संचार करने के लिए नये सिरे से एक प्रबल विचार-क्रान्ति की महती आवश्यकता है; जिससे समाज और संघ में नया जीवन आए, नये प्राण आएँ और कुछ हलचल पैदा हो। इसी दृष्टि-बिन्दु को ध्यान में रखते हुए विचारशीलता के लिए, मानवता के अभ्युदय के लिए, समाज को विषमता

एवं अभद्रता मिटाने के लिए, प्राचीनता में नवीनता का रंग भरने के लिए, संघ और राष्ट्र की अन्ध स्थिति को ज्योतिर्मय करने के लिए, समाज की नव सर्जना के लिए समाज के इस महामहिम व्यक्तित्व के आध्यात्मिक, धार्मिक, वैचारिक, आचारिक और राष्ट्रीय क्रान्तिशील विचारों को वर्गीकरण का नया रूप देकर जन-मानस तक पहुँचाने का यह एक नया उपक्रम किया गया है।

इतना तो मैं अवश्य कहना चाहूँगा कि इन क्रान्त विचारों में सभी दर्शनों का मक्खन सिमटा हुआ है। ठोस और समरूप मक्खन, जो चखने में स्वादिष्ट लगता है, किन्तु जिसे पचाना प्रत्येक व्यक्ति के लिए हँसी-खेल नही होता। दर्पण की तरह साफ और दूरगामी ये विचार रूढ़ि-चुस्त, स्वार्थ-परस्त और परम्परा-भक्त तत्वों के गले आज भले ही न उतर सकें, पर आने वाले कल में कवि श्री जी का यह सूक्ष्म और गहरा विचार-विश्लेषण जन-मानस के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ का काम करेगा—इसमें सन्देह नहीं।

एक बात और। ये कोई बधे-बंधाये प्रकोष्ठ नहीं हैं, बल्कि धारा के नये-नये मोड़ और तरंगोन्मेष हैं। आजकल के धर्म-नेताओं और समाज के कर्णधारों के शब्द बजते है; क्योंकि उनमें खोखलापन होता है। कवि श्री जी के शब्दों में खोखलापन नहीं, इसी से वे बजते नहीं। उनमें एक अद्भुत आकर्षण और अतुल गाम्भीर्य है। उनमें अनेक वाक्य भी आपको जरूरत से ज्यादा लगेंगे, मानो जरा-सी बात को विशाल आवरण के साथ पाठकों के सामने उपस्थित किया जा रहा हो। लेकिन कुल मिलाकर उसमें आपको वातावरण की एक ऐसी अद्भुत सृष्टि मिलेगी कि आप वाह-वाह कर उठेंगे। उनकी विचार-शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाया स्पष्ट है; जिसे प्रारम्भ में देख कर तो आदमी सहमता है, लेकिन बाद में वही चीज उसे जीवन का मूल-भूत तत्त्व मालूम पड़ने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि श्री जी की इन विचार-झांकियों में जीवन के नये दृष्टि-कोण हैं, जीवन की समस्याओं और जीवन को एक नया रूप दिया गया है। वस्तुतः उनके विचार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन की गहराइयों को पूर्णतया छू लेते हैं। ऐसा कोई जीवन-कोण नहीं, जो उनकी विचार-क्रान्ति के अभिनव प्रकाश से असम्पृक्त रहा हो, जहाँ उनकी पैनी दृष्टि की प्रकाशमयी किरणें न छिटकी हों।

इसके साथ-साथ उनके विचार-दर्शन की जो चित्र-रेखाएँ कागज के इन चिथड़ों पर खिंची हुई हैं, वे केवल झलकियां ही नहीं देतीं, प्रत्युत वे बोलती हुई चलती भी हैं, बिल्कुल उसी तरह जैसे किसी अच्छी पुस्तक की पंक्तियों का मूल बरसों बीत जाने पर भी मन-मस्तिष्क में ताजा बना रहता है। यह कहते हुए मेरे मन में जरा भी हिचकिचाहट नहीं कि विचारों के ये नये मोड़ एक ओर जहां समाज और राष्ट्र के हजारों लोगों को एक विस्तृत, महत्तम ध्येय की ओर प्रेरित करने में समर्थ होंगे, वहाँ व्यक्ति के अन्तर की दीप-शिखाओं को भी भरपूर तेल देंगे, ताकि उनके प्रकाश में मानवता अपना नया जन्म ले सके और एकता, समता तथा बन्धुता के पथ पर मानव-संस्कृति अग्रसर हो सके। इन प्राणवन्त एवं स्पन्दनशील विचारों की रेखाएँ अमिट हैं, इनका रंग चिरंजीवी है, इनकी नित-नूतन प्रेरणा-शक्ति अमर है!

उपसंहार में हम यह कहना चाहते हैं कि अत्यन्त सहज, सरल, सीधी अभिव्यंजना के साथ यह अभिनव प्रयास अपने भीतर बड़ी गहराई, संश्लिष्ट अभिव्यक्ति और सर्वांगीण जीवन-ग्राहिणी शक्ति लेकर सामने आ रहा है। एक महान् कृति की आत्म-वत्ता, प्राणःवत्ता और गरिमा इसकी पंक्ति-पंक्ति में बोलती है। युग-

चैतन्य के अनुकूल नयी मानसिकता और वैचारिक नवोत्थान को जन्म दे सकेंगे विचारों के ये नये मोड़—ऐसा विश्वास है।

शेष में, यह हार्दिक उल्लास प्रकट करने का मैं लोभ-संवरण नहीं कर सकता कि विचारों की लिपि करने और पुस्तक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में मेरे स्नेही साथी श्री सुबोध मुनि जी का सक्रिय सहयोग मधुर स्मृति के रूप में सदा ताजा बना रहेगा।

कार्तिक-पूर्णिमा
२६-११-५५
जैन-भवन,
लोहामंडी, आगरा

—सुरेश मुनि

किंचित्

प्रस्तुत सन्मति-प्रकाशन 'विचारों के नये मोड़' को पाठकों के कर-कमलों में अर्पित करते हुए मेरा तन-मन हर्षोल्लास से भर रहा है। कवि श्री जी आज हमारे समाज की आँख हैं। उनके व्यक्तित्व में एक जलता हुआ प्रकाश है। उनके विचार व्यक्ति के अन्तर को पकड़ कर झकझोर देते हैं; क्योंकि उन विचारों में नये प्राण, नयी चेतना और नयी क्रान्ति का महास्वर बोलता रहता है। आज समाज तथा राष्ट्र के नव निर्माण के लिए मानवता का सर्वाङ्गीण स्पर्श करने वाले ऐसे शुद्ध, सात्त्विक विचारों के प्रचार की परम आवश्यता है। मुनि श्री सुरेश जी ने कवि श्री जी के विचारों का जो मक्खन समाज के सामने प्रस्तुत किया है, उसके लिए समाज उनका सदा आभारी रहेगा।

समाज, संघ और राष्ट्र की विचार-दरिद्रता एवं मानसिक अभद्रता मिटाने में तथा जन-मानस में एक सार्व-लौकिक चैतन्य जगाने में कवि श्री जी के ये विचार-अणुबम तूफानी लहरों का कार्य करेंगे, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

प्रार्थी—

रतनलाल जैन मीतल

मंत्री, सन्मति-ज्ञान-पीठ,

आगरा

विषय-सूची

२: विचार और आचार

३ः जीवन और नैतिकता

४: संघ और परम्परा

६: प्रश्न और उत्तर

विचारों के नये मोड़

अध्यात्म और धर्म

१. आत्मानुभूति
२. आत्म-तीर्थ
३. शरीर और आत्मा
४. अन्तर्जागरण
५. धर्म और पंथ

आत्मानुभूति

साधक, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा साधु हो, एक ही ध्येय लेकर आये हैं। और वह महान् ध्येय यही है कि आत्मा को अलग और शरीर, इन्द्रिय एवं मन को अलग समझ लें। आत्मा में पैदा होने वाले औदयिक भावों को, क्रोध आदि विकारों को अलग समझ लें और आत्मा को अलग समझ लें।

जिस साधक ने यह समझ लिया, वह अपनी साधना में दृढ़ बन गया। फिर संसार का कोई भी सुख या दुःख उसको विचलित नहीं कर सकता। जब तक यह भूमिका नहीं आती, तब तक मनुष्य सुख से मचलता है और दुःख से घबराता है। जीवन की दोनों दशाएँ हैं—एक सुख और दूसरी दुःख देती है। किन्तु, जब उक्त भेद-विज्ञान-दशा को प्राप्त कर लिया जाता है, तब न सुख विचलित कर सकता है और न दुःख ही। जब दुःख आए, तो दुःख में न रह कर आत्मा में रहे और जब सुख आए, तो सुख में न रह कर आत्मा में रहे। और समझ लिया जाय कि यह तो संसार की परिणति है। जो अच्छा या बुरा चल रहा है, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह तो पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न होने वाली विभाव परिणति है। जब तक यह है, तब तक है, और जब चली जाएगी तो, फिर कुछ नहीं है। इस प्रकार भेद-विज्ञान की भूमिका प्राप्त कर लेने वाला आत्मा अपने स्वरूप में रमण करने लगता है।

जैन-धर्म का यही दर्शन है। जैन-धर्म में बतलाए गए चौदह गुणस्थान और क्या हैं? वे यही बतलाते हैं कि अमुक भूमिका पर पहुँच जाने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जायगी और अमुक भूमिका पर क्रोध, अभिमान, माया और लोभ छूट जाएँगे और अमुक भूमिका में जाकर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और अन्तराय कर्म छूट जाएँगे। फिर आगे की भूमिका में आयुष्य आदि शेष चार कर्म भी दूर हो जाएँगे। इसके पश्चात् आत्मा सर्वथा विशुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। यह है जैन-दर्शन की स्थिति।

तो हमारी अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की जो साधना है, वह किस रूप में है? इसी रूप में कि हम इस शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो सकें। शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग का अर्थ क्या है? अर्थ यह है कि कर्मों का क्षय तो जब होगा तब होगा, किन्तु हम अपनी विवेक और बुद्धि से तो उससे अलग हो सकें।

जब तक आयुष्य कर्म की परम्परा मौजूद है, हमें शरीर में रहना है और जब तक नाम कर्म की धारा बह रही है, हम शरीर से पृथक् नहीं हो सकते। एक के बाद एक शरीर का निर्माण होता ही जायेगा। किन्तु यह शरीर और ये इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं, जो इस परम-तत्व को समझ लेते हैं और उसमें आस्थावान् हो जाते हैं, वे शरीर में रहते हुए भी

शरीर से अलग-मालूम होते हैं।

इसे स्व-पर विवेक कहें, भेद-विज्ञान कहें, आत्मा-अनात्मा का भान कहें, या आत्मानुभूति कहें; वास्तव में यही धर्म है। समस्त साधनाएँ और सारे क्रिया-काण्ड इसी अनुभूति के लिए हैं। व्रत, नियम तप और जप आदि का उद्देश्य इसी अनुभूति को पाने के लिए है। ज्ञान, ध्यान; सामायिक और स्वाध्याय इसी के लिए किए जाते हैं। जिस साधक को यह आत्मानुभूति प्राप्त हो गयी, उस की मुक्ति हो गई, उसके भव भव के बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये, वह कृतार्थ हुआ और शुद्ध सच्चिदानन्दमय बन गया।

* * *

स्वभाव और विभाव

जैन-धर्म आत्मा की शुद्धता पर भी विश्वास करता है और शुद्ध होने की संभावना पर भी विश्वास करता है। वह अशुद्धता और शुद्धता के कारणों का भी बड़ा सुन्दर विश्लेषण करता है। हमारे अनेक सहयोगी धर्म भी उस का साथ देते हैं। इसका मतलब यह है कि आत्मा मलिनता की स्थिति में है, और स्वीकार करना भी चाहिए कि विकार उसमें रह रहे हैं; किन्तु वे विकार उसका स्वभाव नही हैं, जिससे कि आत्मा विकार-स्वभाव-मय हो जाय। स्वभाव

कभी छूटता नहीं है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वह कदापि उससे जुदा नहीं हो सकता। स्वभाव ही तो वह वस्तु है। और यदि स्वभाव चला गया, तो वस्तु के नाम पर रह क्या जायगा? तो विकार आत्मा में रहते हुए भी आत्मा के स्वभाव नहीं बन पाते।

वस्त्र की मलिनता और निर्मलता के सम्बन्ध में ही विचार कर देखें। परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव एक वस्तु में नहीं हो सकते। ऐसा हो, तो उस वस्तु को एक नहीं कहा जायगा। दो स्वभावों के कारण वह वस्तु भी दो माननी पड़ेगी। पानी स्वभाव से ठंडा है; तो स्वभाव से गरम नहीं हो सकता। आग स्वभाव से गरम है, तो स्वभाव से ठंडी नहीं हो सकती। आशय यह है कि एक वस्तु के परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते हैं। अतएव आत्मा स्वभाव से या तो विकारमय—मलिन ही हो सकता है या निर्मल-निर्विकार ही हो सकता है।

किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आत्मा में दोनों चीजें हैं—मलिनता भी और निर्मलता भी! तब अपने आप यह बात समझ में आ जानी चाहिए कि वह दोनों आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। दोनों उसमें विद्यमान हैं अवश्य, मगर दोनों उसमें स्वभाविक नहीं। एक चीज स्वभाव है और दूसरी चीज विभाव है, आगन्तुक है, औपाधिक है। और दोनों में जो विभाव रूप है, वही हट सकती है। स्वभाव

नहीं हट सकता।

तो आत्मा का, स्वभाव क्या है? और विभाव क्या है? यह समझने के लिए वस्त्र की मलिनता और निर्मलता पर विचार कर लीजिए। वस्त्र में मलिनता बाहर से आई है, निर्मलता बाहर से नहीं आई। निर्मलता उसका सहज भाव है, स्वभाव है। जिस प्रकार निर्मलता वस्त्र का स्वभाव है और मलिनता उसका विभाव है, औपाधिक भाव है; इसी प्रकार निर्मलता आत्मा का स्वभाव है और विकार तथा वासनाएँ विभाव हैं।

जो धर्म वस्तु में किसी कारण से आ गया है, किन्तु जो उसका अपना रूप नहीं है, वही विभाव कहलाता है। और स्वाभाव वह कहलाता है, जो वस्तु का मूल और असली रूप हो, जो किसी निमित्त कारण से उत्पन्न न हुआ हो।

जैन-धर्म ने माना है कि क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा जो भी विकार आत्मा में मालूम हो रहे हैं, यह तुम्हारे स्वभाव या निजरूप नहीं हैं। यह विकार तुम्हारे अन्दर रह रहे हैं; इतने मात्र से तुम भ्रान्ति में मत पड़ो। वे कितने ही गहरे घुसे हों, फिर भी तुम्हारा अपना रूप नहीं हैं। तुम, तुम हो, और विकार, विकार हैं।

जैन-धर्म ने इस रूप में भेद-विज्ञान की देशना की है। भेद-विज्ञान के विषय में हमारे यहाँ कहा गया है—

'भेद-विज्ञानतः सिद्धाः ये सिद्धाः किल केचन ।'

—आचार्य अमृतचन्द्र

अनादि काल से आज तक जितनी भी आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की है, और आगे प्राप्त करेंगी, वह तुम्हारे इस कोरे क्रियाकाण्ड से नहीं की है और न करेंगी। यह तो निमित्त मात्र है। जड़ और चेतन को अलग-अलग समझने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

जड़ और चेतन को अलग-अलग समझना एक महत्व-पूर्ण दृष्टि-कोण है। इस दृष्टिकोण से जब आत्मा देखती है और साधना करती है, तभी जीवन में रस आता है। वह रस क्या है? आत्मा भेद-विज्ञान की ज्योति को आगे-आगे अधिकाधिक प्रकाशित करती जाती है, और एक दिन उस स्वरूप में पहुँच जाती है कि दोनों में सचमुच ही भेद हो जाता है। जड़ से आत्मा सम्पूर्ण रूप से पृथक् हो जाती है और अपने असली स्वभाव में आजाती है।

* * *

आत्म-तीर्थ

मनुष्य के भीतर प्रायः एक ऐसी दुर्वृत्ति काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नहीं करता, बल्कि बाहर खोजता फिरता है। जहाँ जख्म है, वहाँ मरहम

नहीं लगाता, बाहर लगाता है ! हाथ में चोट लगी और पैर में दवाई लगाई, तो क्या होगा ? सिर दुख रहा है और हाथों में चन्दन लगाया, तो क्या दर्द मिट जाएगा ? रोग जहाँ हो, वहीं दवा लगानी चाहिए। यदि दाहिने हाथ में कीचड़ लगा है; तो बायें हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा ?

हाँ, तो हमें देखना चाहिए कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का मैल कहाँ लगा है ? यदि वह मैल कहीं शरीर पर लगा है, तब तो किसी तीर्थ में जाकर धो लिया जाय। पर वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत है ? डुबकी लगाओगे कहीं इधर-उधर किसी तालाब या नदी में, तो भी वह दूर हो जाएगा। जैनधर्म कहता है,वह मैल आत्मा पर लगा है। अतः दुनिया-भर के तीर्थों में क्यों भटकते फिरते हो ? सब से बड़ा तीर्थ तो तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। क्यों कि उसी में तो बहती हैं अहिंसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ, उसी में डुबकी लगाओ, तो शुद्ध हो जाओगे। जहाँ अशुद्धि है, वहीं की ही तो शुद्धि करनी है।

जैन-दर्शन बड़ा आध्यात्मिक दर्शन है और इतना ऊँचा है कि मनुष्य को मनुष्य के अन्दर बंद करता है। मनुष्य की दृष्टि मनुष्य में डालता है। अपनी महानता अपने अन्दर तलाश करने को कहता है। क्या तुम अपना कल्याण करना चाहते हो ? तुम पूछते हो कि कल्याण

तो करना चाहते हैं, पर कहाँ करें ? तो जैनधर्म का उत्तर साफ है कि जहाँ तुम हो वहीं पर, बाहर किसी गंगा में या और किसी नदी या पहाड़ में नहीं। आत्म-कल्याण के लिए, जीवन-शुद्धि के लिए या अपने अंदर में सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इंच भी इधर-उधर जाने की जरूरत नहीं है। तू जहाँ है, वहीं जाग जा और आत्मा का कल्याण कर ले।

एक विद्वान् ने कहा—"आपके यहाँ ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है और एक योजन चार हजार कोस का है! आप बड़े-बड़े दार्शनिकों से चर्चाएँ करते हैं और मोक्ष इतना लम्बा-चौड़ा मानते हैं कि जिसकी कोई हद ही नहीं है।"

मैंने कहा—"इतना तो मानना ही है। इतने बड़े की जरूरत भी तो है ही। हमने मोक्ष इन्सान के लिए माना है और जहाँ इन्सान है, वहाँ मोक्ष भी है। इन्सान का कदम ४५ लाख योजन तक है, तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। मोक्ष इन्सान को मिलता है। इन्सान जब आत्म-शुद्धि करेगा, तो सीधा मोक्ष में पहुँच जायगा। उसे एक इंच भी इधर-उधर नहीं होना पड़ेगा। अतएव जहाँ हो, वहीं बैठ जाओ। जहाँ हो वहीं आत्मा में डुबकी लगा दो। वहाँ अमृत की गंगा बह रही है। संयम की साधना की ओर जितने लगोगे, उतने ही मोक्ष के निकट होते जाओगे, मैल धोकर निर्मल होते जाओगे। और मैल धुलते-धुलते जब

उसका आखिरी कण भी घुल जाएगा तो, वहीं के वहीं मोक्ष पा लोगे ।"

यह सुनकर वह विद्वान् हँसे और बोले-"बड़ा गजब का रूपक बना रक्खा है !"

मैंने कहा—"बनाया नहीं है, सत्य ऐसा ही है।

आप ही कहिए, मोक्ष किसको मिलेगा ? क्या ऊँट, घोड़े या राक्षस को मिलेगा ? नहीं। वह तो मनुष्य को ही मिलेगा। अतः जहाँ मनुष्य है, वहीं मोक्ष होना चाहिए। जैनधर्म अपने-आप में इतना विराट है कि वह गंगा को अपने ही अन्दर देखता है। कहीं अन्यत्र जाने को नहीं कहता। सब से बड़ी गंगा उसके भीतर बह रही है और वह तीन राहों पर बहती है। वह मन के लोक में से, वचन के लोक में से और काया के लोक में से बह रही है। मगर डुबकी लगेगी तभी, जब आप लगाएँगे। हजारों तीर्थों में स्नान कर आये, किन्तु अन्दर की गंगा में स्नान नहीं किया, तो सब बेकार !

* * *

सारा दायित्व अपने ऊपर

जैनधर्म ने आत्मा को ही केन्द्र बना दिया है। गृहस्थ हो या साधु हो, उसकी आत्मा पर ही सारा भार डाल दिया

है। उसका कहना है—"तेरा जीवन तेरे पास है। तू चाहे उसे लोहा बनाले, चाहे सोना बना ले। उसमें से काँटे पैदा कर ले या फूल पैदा कर ले। नरक बना ले या स्वर्ग बना ले। दोनों का निर्माण करना तेरे हाथ की बात है। सारे विश्व में जो जगह है, उसका महत्त्व तेरे ही अन्दर है।"

मनुष्य दुर्बल, हताश और निराश हो कर चलता है और दूसरे का सहारा ले कर चलता है। उसे दूसरे की उंगलियाँ पकड़ने की आदत है। इसी आदत के कारण उसने देवी-देवताओं का पल्ला पकड़ा और दुनिया-भर के आदमियों को रोशनी समझा और समझा कि ये मेरा कल्याण कर देंगे।

इसी भरोसे, कोई बीमार पड़ता है तो हजारों देवी-देवताओं को मानता फिरता है। लक्ष्मी आई और चली गई, तब भी देवी-देवताओं की मनौती कर रहा है और बेटा-पोता चाहिए तो भी उन्हीं की शरण ले रहा है।

इस प्रकार दुर्भाग्य से, आध्यात्मिक और लौकिक दोनों जिन्दगियों को अपने-आप निर्माण करने के जो ढंग थे, वे इन्सान के हाथ से निकल गये। उसने सोचा कि संसार में रहूँगा, तो कोई दूसरा मेरे जीवन का निर्माण कर देगा और आध्यात्मिक जीवन में रहूँगा, तो वहाँ भी दूसरे से आनन्द मिलेगा। इस तरह मनुष्य का सांसारिक जीवन भी दूसरों पर निर्भर हो गया है और आध्यात्मिक साधना की जड़ सी

खोखली हो गई है।

भगवान् महावीर ने और जैनधर्म ने मनुष्य जाति को यह महान् संदेश दिया है कि तेरा बनाव और बिगाड़ तेरे ही हाथ में है। तू आप ही बन सकता है और आप ही बिगड़ सकता है। तू जिधर चलेगा, उधर ही पहुँच जाएगा। ये संसार के दुःख, आपत्तियाँ और संकट, जो भी हैं, बाहर से नहीं आ रहे हैं, वह अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हो रहे हैं। और जो भी सुख और वैभव और अच्छाइयां हैं, वे भी बाहर से नहीं डाली जा रही हैं। उनका उद्गम स्थान भी तेरा अन्तःप्रदेश ही है। और आत्मा के बन्धनों को तोड़ने की कला भी बाहर से नहीं आएगी, वह भी अन्दर ही पैदा होगी। तुझे पाप के मार्ग पर कौन चला रहा है? और पुण्य के मार्ग पर भी कौन धक्का दे रहा है? तू स्वयं ही चल रहा है। ऐसा तो नहीं है कि कोई घसीट कर ले जा रहा हो। जिस ओर भी तू चल रहा है, अपनी अन्तः प्रेरणा से ही चल रहा है। और धर्म के मार्ग पर भी, जहाँ पाप और पुण्य अलग होते दिखाई देते हैं, उस पवित्र राह पर भी, तू स्वयं ही चल सकता है। यह महान् और महत्त्वपूर्ण संदेश हमारे सामने इस रूप में आया है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अर्थात्—यह आत्मा स्वयं कर्म करती है, अपने-आप

बन्धन में बँधती है, अपने-आप अपने-आपको बन्धन में डालकर मजबूत हो जाती है, और जब अपने-आप बन्धन डाला है, तो उसका फल भी अपने-आप भोगती है। न कोई दूसरा उसे बन्धन में डालता है, और न कोई फल भुगवाता है।

आत्मा इस संसार में निरन्तर परिभ्रमण कर रही है। कभी नरक में और कभी स्वर्ग में जाती है और जीवन का झूला निरंतर घूमता रहता है, एक क्षण के लिए भी कुछ विश्राम नहीं है। यह भ्रमण भी आत्मा स्वयं ही कर रही है और इस परिभ्रमण से छुटकारा पाना है, तो कौन छुटकारा दिला देगा? छुटकारा देने या दिलाने वाला और कोई नहीं होगा, यही आत्मा होगी। आत्मा स्वयं अपने बन्धनों को काटेगी। अन्दर से चेतना जाग जायगी, तो बन्धन टूट जाएँगे।

आचार्य अमितगति इसी महान् संदेश को हमारे कानों में गुंजाते हुए कह रहे हैं—

'परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।'

—तू इस बुद्धि और विचार का परित्याग कर दे कि हमें सुख-दुःख देने वाला कोई और है। तेरे ऊपर, तेरे सिवाय और किसी की सत्ता नहीं चल सकती। तेरा मंगल और अमंगल, संसार और मोक्ष, सभी कुछ, पूरी तरह तेरे हाथ में है।

भारतीय दर्शनों में ऐसे भी स्वर सुनाई देते हैं, जो आत्मा की सत्ता को क्षुद्र बतलाते हैं, आत्मा के सामर्थ्य को नगण्य कहते हैं और आत्मा की स्वाधीनता को चुनौती देते हैं। वे इस आत्मा को किसी अलक्षित और अदृष्ट शक्ति की कठपुतली कहते हैं और कहते हैं कि संसारी जीव ईश्वर का खिलौना है। उन्होंने कहा है—

> अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
> ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा॥

अर्थात्—यह संसारी जीवड़ा बेचारा क्या कर सकता है। इसके हाथ में कुछ भी तो नहीं है! न उसका सुख उसके आधीन है और न दुःख ही। स्वर्ग पाना या नरक पाना भी उसके हाथ की बात नहीं है। ईश्वर नाम की जो विराट सत्ता है, वही सबका फैसला करती है। वह किसी को सुखी और किसी को दुखी बनाती है। मन में आता है उसे नरक में ठूंस देती है और जिसे चाहती है उसे स्वर्ग में भेज देती है।

ऐसे ईश्वर की कल्पना करने वालों ने नहीं सोचा कि वे ईश्वर को किस उच्छृङ्खल और मनमौजी के रूप में चित्रित कर रहे हैं। आत्मा के अन्दर अगर सुख-दुःख के बीज नहीं हैं, तो उसमें सुख-दुःख के पौधे किस प्रकार उग सकते हैं? और यदि बीज उसमें मौजूद हैं, तो फिर उस बीज को किसने उत्पन्न किया है? आत्मा जब बीज को उत्पन्न कर सकता है,

तो फल को भी वह क्यों नहीं भोग सकता ?

जैन-धर्म आत्मा की इस विवशता और दीनता के विरुद्ध आवाज बुलन्द करता है, और कहता है—

> अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
>
> —उत्तराध्ययन-सूत्र

आत्मा स्वयं ही अपने दुःखों और सुखों का कर्ता है, और स्वयं ही उसका भोक्ता है। कोई भी वाहरी शक्ति उसे सुख-दुःख नहीं पहुँचाती।

जैन-धर्म का इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि उसके साधक को अपने आपमें वलवान् और मजबूत होना है। उसे ईश्वर का चिंतन लेकर चलना है और अपने जगत् का निर्माण करने के लिए स्वयं ही ईश्वर वन जाना है। किसी दूसरे ईश्वर के भरोसे गाड़ी नहीं चलानी है।

* * *

सुख कहाँ ?

सच्चा सुख है आत्मा में। सुख का झरना अन्यत्र कहीं नहीं, अपने अन्दर ही वह रहा है। जब आत्मा वाहर भटकता है, पर-परणति में जाता है, तो दुःख का शिकार होता है। और जब वह लौटकर अपने अन्दर में ही आता है, वैराग्य-रस का आस्वादन करता है, संयम के अमृत-प्रवाह

में अवगाहन करता है, तो सुख, शान्ति और आनन्द का ठाठें मारता हुआ क्षीर-सागर अपने अन्दर ही मिल जाता है। जब तक मनुष्य बाह्य वस्तुओं के पीछे भागता है, धन, पुत्र, परिवार एवं भोग-वासना आदि की दल-दल में फँसता है, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। यह तो वह आग है, जितना ईंधन डालोगे, उतनी ही बढ़ेगी, बुझेगी नहीं। वह मूर्ख है, जो आग में घी डालकर उसकी भूख बुझाना चाहता है। जब भोग का त्याग करेगा, तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है; वस्तु में नहीं, आत्मा में है।

अरुणिकोपनिषद् में कथा आती है कि प्रजापति के पुत्र आरुणि ऋषि कहीं जा रहे थे। मार्ग में क्या देखा कि एक कुत्ता मांस से सनी हुई हड्डी मुख में लिए दौड़ा जा रहा था। हड्डी को देखकर कई कुत्तों के मुख में पानी भर आया। और उन्होंने आकर कुत्ते को घेर लिया। सब के सब दांत, पंजे आदि से उसको नोचने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्ते ने मुख से हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़ कर हडडी के पीछे पड़ गये और वह कुत्ता जान बचा कर भाग गया। उन कुत्तों में हड्डी के पीछे बहुत देर तक लड़ाई होती रही और वे सब-के-सब घायल हो गए।

यह तमाशा देखकर आरुणि ऋषि विचार करने लगे कि "अहो, जितना दुःख है, ग्रहण में ही है, त्याग में कुछ

भी दुःख नहीं है, प्रत्युत सुख ही है। जब तक कुत्ते ने हड्डी नहीं छोड़ी, तब तक पिटता और घायल होता रहा और जब हड्डी छोड़दी, तो सुखी हो गया। इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुखरूप है, ग्रहण में दुःख है। हाथ से ग्रहण करने में दुःख हो, इसका कहना ही क्या है, मन से विषय का ध्यान करने में भी दुःख ही होता है। इसलिएं विषयासक्ति ही सब अनर्थों का मूल है। जब विषयों का त्याग होता है, वैराग्य होता है, तभी सच्चे सुख का झरना अन्तरात्मा में वहता है और जन्म-जन्मान्तरों से आने वाले 'वैषयिक सुख-दुःख के मैल को वहा कर साफ कर डालता है।

वाह्य दृष्टि से धन-वैभव, भोग-विलास कितने ही रमणीय एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होते हों, परन्तु विवेकी मनुष्य तो इनमें सुख की गन्ध भी नहीं देखता। विषयासक्त होकर आज तक किसी ने कुछ भी सुख नहीं पाया। विषयासक्त मनुष्य अपने-आप में कितना ही क्यों न वड़ा हो, एक दिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों से सदा के लिए हाथ धो वैठता है। क्या कभी विषय-तृष्णा भोग से शान्त हो सकती है? कभी नहीं। वह तो जितना भोग भोगेंगे, उतनी प्रति पल चढ़ती ही जायगी। मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है। वह पूरी नहीं हो पाती कि तीसरी आ धमकती है। इच्छाओं का यह सिल-सिला टूट ही नहीं पाता। मनुष्य का मन परस्पर विरोधी

इच्छाओं का वैसा ही केन्द्र है, जैसा कि हजारों-लाखों उठती-गिरती लहरों का समुद्र !

एक दरिद्र मनुष्य कहता है कि यदि कहीं से पचास रुपये माहवारी मिल जाएँ, तो मैं सुखी हो जाऊँ ! जिसको पचास मिल रहे हैं, वह सौ के लिए छटपटा रहा है और सौ वाला हजार के लिए। इस प्रकार लाखों, करोड़ों और अरबों पर दौड़ लग रही है। परन्तु, आप विचार करें कि यदि पचास में सुख है, तो पचास वाला सौ, सौ वाला हजार, हजार वाला लाख, और लाख वाला करोड़ क्यों चाहता है ? इसका अर्थ है वैषयिक सुख, सुख नहीं है। वह वस्तुतः दुःख ही है। भगवान महावीर ने वैषयिक सुख के लिए शहद से लिप्त तलवार की धार का उदाहरण दिया है। यदि शहद पुती तलवार की धार को चाटें, तो कितनी देर का सुख ? और चाटते समय धार से जीभ कटते ही कितना लम्बा दुःख ? इसीलिए भगवान् महावीर ने अन्यत्र भी कहा है "सब वैषयिक-गान विलाप हैं, सब नाच-रग विडम्बना है, सब अलंकार शरीर पर बोझ हैं, किं बहुना ? जो भी काम-भोग हैं, सब दुःख के देने वाले हैं—

> सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
> सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥
>
> —उत्तराध्ययन १३।१६

सच्चा सुख त्याग में है। जिसने विषयाशा छोड़ी, उसी

ने सच्चा सुख पाया। उससे बढ़ कर संसार में और कौन सुखी हो सकता है ?

* * *

भौतिकता तथा आध्यात्मिकता

आज का विश्व सुख और शान्ति की खोज तो कर रहा है, किन्तु दुर्भाग्य से वह अभी तक भौतिक साधनों की ओर ही झुकता जा रहा है। जीवन में भौतिक साधनों की भी जरूरत तो है, पर उस के साथ में आध्यात्मिक साधन, संयम और धृति की बड़ी आवश्यकता है। कल्पना करो कि आपको घोड़ा तो दे दिया जाए, किन्तु आपके हाथ में उसकी लगाम न दी जाए, तो क्या हालत होगी? हवाई घोड़े को यदि किसी मोहल्ले की गलियों में तेज गति से दौड़ाया जाए, तो क्या हालत होगी? आप स्वयं भी गिरेंगें, तथा दूसरे मनुष्यों को भी घायल करेंगे।

इसी प्रकार, भौतिक साधन-रूपी अश्व मानव को चढ़ने के लिए मिला है। परन्तु, उसके मुँह में संयम की लगाम न हो,तो आपको हर कदम पर खतरा ही रहेगा। आपको ही नहीं, आपके परिवार, समाज और राष्ट्र को भी क्षति पहुँचाएगा। इसका कटु फल तो हम विगत दो विश्व-युद्धों में तथा वर्त्तमान में भी कोरिया में प्रत्यक्ष देख चुके हैं।

यूरोप के भौतिक साधन सम्पन्न देशों ने विश्व के वैभव पर अधिकार किया, धन-सम्पत्ति की विशाल राशि एकत्रित की, फिर भी उन्हें सुख एवं शान्ति का अनुभव नहीं हो सका। सुख और शान्ति की अभिलाषा करते हुए भी उन्हें सुख और शान्ति मिल नहीं सकी। सुख और शान्ति के लिए तो विवेक, त्याग और संयम की बड़ी जरूरत है, और भविष्य में भी रहेगी। मेरा तात्पर्य इतना ही है, कि भौतिक और अध्यात्म साधनों में पूरा पूरा सन्तुलन चाहिए, तभी हम विकास के मार्ग पर अबाध गति से चल सकते हैं।

* * *

विकारों से लड़िए

जैन-धर्म ने यही कहा है कि बाह्य जगत् में ऐसी कोई भी नई चीज नहीं है, जो इस पिण्ड में न हो। केवल ज्ञान और केवल दर्शन की जो महान् ज्योति मिलती है, उसके विषय में कहने को तो कहते हैं कि अमुक दिन और अमुक समय मिल गई, किन्तु वास्तव में कोई नवीन चीज नहीं मिलती है। हम केवल ज्ञान, केवल दर्शन और दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों के लिए 'आविर्भाव' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः केवल ज्ञान आदि शक्तियां उत्पन्न नहीं होती हैं, आविर्भूत होती हैं। उत्पन्न होने का अर्थ नई चीज का बनना है और आविर्भूत का अर्थ है—विद्यमान वस्तु का आवरण हटने पर सामने आना।

जैन-धर्म प्रत्येक शक्ति के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि किसी वस्तु में कोई भी अभूत-पूर्व शक्ति उत्पन्न नहीं होती है।

आत्मा की जो शक्तियाँ हैं, वे अन्तर में विद्यमान हैं, किन्तु वासनाओं के कारण दवी रहती हैं। हमारा काम उन वासनाओं को दूर करना है। इसी को साधना कहते हैं। जैसे किसी पात्र को जंग लग गई हो, किसी धातु के वर्तन की चमक कम हो गई हो, तो चमक लाने के लिए मांजने वाला उसे घिसता है, उसे साफ करता है। ऐसा करके वह कोई नई चमक उसमें पैदा नहीं करता है। उस वर्तन में चमक विद्यमान है, जो बाह्य वातावरण से दव गई या छिप गई हैं, उसे प्रकट कर देना ही मांजने वाले का काम है। सोना कीचड़ में गिर गया है और उसकी चमक छिप गई है। उसे साफ करने वाला सोने में कोई नई चमक बाहर से नहीं डाल रहा है, सोने को सोना नहीं बना रहा है, सोना तो वह हर हालत में है ही। जब कीचड़ में नहीं पड़ा था, जब भी सोना था और जब कीचड़ से लथ-पथ हो गया, तब भी सोना ही है और जब साफ कर लिया गया, तब भी सोने का सोना ही है। उसमें चमक पहले भी थी और वाद में भी है। वीच में जब वह कीचड़ में लथ-पथ हो गया, तो चमक दब गई। मांजने वाले ने बाहर की लगी हुई कीचड़ को साफ कर दिया, आए हुए विकार को हटा

दिया, तो सोना अपने असली रूप में आ गया।

आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, उनके विषय में भी जैन-धर्म की यही धारणा है। जैन-धर्म कहता है कि वे गुण बाहर से नहीं आते, वे अन्दर में ही रहते हैं। परन्तु आत्मिक विकार उनकी चमक को दबा देते हैं। साधक का यही काम है कि उन विकारों को हटा दे। विकार हट जाएँगे, तो आत्मा के गुण अपनी असली आभा को लेकर चमकने लगेंगे।

हिंसामय विकार को साफ करेंगे, तो अहिंसा चमकने लगेगी। असत्य का सफाया करेंगे, तो सत्य चमकने-लगेगा। इसी प्रकार स्तेय विकार को हटाने पर अस्तेय और विषय-वासना को दूर करने पर संयम की ज्योति हमें नजर आने लगती है। जब क्रोध को दूर किया जाता है, तो क्षमा प्रकट होती है और लोभ हटाया जाता है, तो सन्तोष गुण प्रकट हो जाता है। अभिमान को दूर करना हमारा काम है, परन्तु नम्रता पैदा करने का कोई काम नहीं। वह तो आत्मा में मौजूद ही है। इसी प्रकार माया को हटाने के लिए हमें साधना करनी है, सरलता को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं है। सरलता तो आत्मा का स्वभाव ही है। माया के हटते ही वह उसी प्रकार प्रकट हो जाएगी, जैसे कीचड़ धुलते ही सोने में चमक आ जाती है।

जैन-धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से गुण-स्थानों का बड़ा

ही सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है । एक-एक गुण-स्थान उस महान् प्रकाश की ओर जाने का सोपान है। किन्तु उन गुण-स्थानों को पैदा करने की कोई बात नहीं बतलाई है। यही बताया है कि अमुक गुण के विकार को दूर किया, तो अमुक गुण-स्थान आ गया। मिथ्यात्व को हटाया, तो सम्यक्त्व की भूमिका पर आ गये और अविरति को हटाया, तो पाँचवे-छठे गुण-स्थान को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों विकार दूर होते जाते हैं, गुण-स्थान की उच्चतर श्रेणी प्राप्त होती जाती है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान विरति आदि आत्मा के मूल-भाव हैं। ये मूल-भाव जब आते हैं, तो कोई बाहर से खींच कर नहीं लाए जाते। उन्हें तो सिर्फ प्रकट किया जाता है। हमारे घर में जो खजाना गड़ा हुआ है, उसे खोद लेना मात्र हमारा काम है, उस पर लदी हुई मिट्टी को हटाई और खजाना हाथ लगा। विकार को दूर किया और आत्मा का मूल-भाव हाथ आ गया।

इस प्रकार जैन-धर्म की महान साधना का एकमात्र उद्देश्य विकारों से लड़ना और उन्हें दूर करना है।

विकार किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं, इस सम्बन्ध में भी जैन-धर्म ने निरूपण किया है। आचार्यों ने कहा है कि यदि अहिंसा के भाव समझ में आ जाते हैं, तो दूसरे भाव भी समझ में आ जायेंगे। इस के लिए कहा गया है कि

बाहर में चाहे हिंसा हो या न हो, हिंसा का भाव आने पर अन्तर में हिंसा हो जाती है। इस प्रकार जो असत्य बोलता है, वह आत्म-हिंसा करता है और जब चोरी करता है, तो अपनी हिंसा कर ही लेता है। इस रूप में मनुष्य जब वासना का शिकार होता है, तो अन्तर में भी और बाहर में भी हिंसा हो जाती है। कोई विकार, चाहे बाहर हिंसा न करे, किन्तु अन्तर में हिंसा अवश्य करता है। दियासलाई जब रगड़ी जाती है, तो वह पहले तो अपने-आप को जला देती है, जब वह दूसरों को जलाने जाती है, तो सम्भव है कि बीच में बुझ जाय और दूसरों को न जला पाए। मगर दूसरों को जलाने के पहले स्वयं को तो जलाना पड़ता ही है। ऐसी दुर्भावना से क्या लाभ ?

प्रत्येक वासना हिंसा है, ज्वाला है और वह आत्मा को जलाती है। अपने विकारों द्वारा हम तो नष्ट हो ही जाते हैं, फिर दूसरों को हानि पहुंचे या न पहुँचे। वातावरण अनुकूल मिल गया, तो दूसरों को हानि पहुँचा दी और न मिला, तो हानि नहीं पहुँचा सके। किन्तु अपनी हानि तो हो ही गई। दूसरों की परिस्थितियाँ और दूसरों का भाग्य हमारे हाथ में नहीं है। अगर वह अच्छा है, तो उन्हें हानि कैसे पहुँच सकती है ? उन्हें कैसे जलाया जा सकता है ? परन्तु दूसरे को जलाने का विचार करने वाला स्वयं को जरूर जला लेता है।

इस कारण हमारा ध्येय अपने विकारों को दूर करना है। प्रत्येक विकार हिंसा-रूप है और यह भूलना नहीं चाहिए कि बाहर में चाहे हिंसा हो या न हो, पर विकार आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। अतएव साधक का दृष्टि-कोण यही होना चाहिए कि वह अपने विकारों से निरन्तर लड़ता रहे और उन्हें परास्त करता चला जाय।

* * *

महात्मा और दुरात्मा

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किस का नीचा ? कौन मनुष्य महात्मा है, महान् है और कौन दुरात्मा तथा क्षुद्र ? इस प्रश्न का उत्तर आपको भिन्न-भिन्न रूप में मिलेगा। जो जैसा उत्तर-दाता होगा, वह वैसा ही कुछ कहेगा। यह मनुष्य की दुर्बलता है कि वह प्रायः अपनी सीमा में घिरा रहकर ही कुछ सोचता है, बोलता है, और करता है।

हाँ तो, इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग आपके सामने जात-पाँत को महत्त्व देंगे और कहेंगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भंगी तो उससे भी नीचा है। ये लोग जात-पाँत के जाल में इस प्रकार अवरुद्ध हो चुके हैं कि कोई ऊँची श्रेणी की बात सोच ही नहीं सकते। जब भी कभी प्रसंग आएगा, एक ही राग

अलापेंगे—जात-पाँत का रोना रोएँगे।

कुछ लोग सम्भव है, धन को महत्त्व दें ? कैसा ही नीच हो, दुराचारी हो, गुंडा हो, जिसके के पास हो पैसे हैं, वह इनकी नजरों में देवता है, ईश्वर का अंश है, राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—

"सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।"

और यदि कोई धन-हीन है, गरीब है, तो बस सबसे बड़ी नीचता है। गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई पूछ नहीं।

क्यों लम्बी बातें करें, जितने मुँह उतनी बातें हैं। आप तो मुझसे मालूम करना चाहते होंगे कि कहिए, आप का क्या विचार है ? भला मैं अपना क्या विचार बताऊँ ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वा वलोकी महापुरुषों के विचार हैं। मैं भी आपकी तरह भारतीय-सहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ। जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हाँ, तो भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा, महान् पुरुष वही है, जो अपने मन में जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही जबान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह है, जो मन में सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना-विचारना। वाणी का काम है बोलना-कहना। और शेष जीवन का काम है, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं में इन तीनों का सामंजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म में एक ही बात पायी जाती है, जरा भी अन्तर नहीं होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है, और न मान-अपमान ही। लोग खुश होते हैं या नाराज, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नहीं। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाय, फूलों की वर्षा हो या जलते अंगारों की। किसी भी प्रकार के आतंक, भय, प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ महान् आत्माओं को डिगा नहीं सकते, बदल नहीं सकते। वे हिमालय के समान अचल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं। मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, बोलना

और करना, उनका पवित्र आदर्श है। संसार की कोई भी भली या बुरी शक्ति, उन्हें झुका नहीं सकती, उनके जीवन के टुकड़े नहीं कर सकती।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुरात्मा हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुरक्षित नहीं रख सकते। उनके मन, वाणी और कर्म तीनों तीन राह पर चलते हैं। जरा-सा भय, जरा-सा प्रेम, जरा-सी हानि, जरा-सा लाभ भी उनके कदम उखाड़ देता है। वे एक क्षण में कुछ हैं, तो दूसरे क्षण में कुछ। परिस्थितियों के बहाव में बह जाना, हवा के अनुसार अपनी चाल बदल लेना, उनके लिए साधारण-सी बात है। सांसारिक प्रलोभनों से ऊपर उठ कर देखना, उन्हें आता ही नहीं। उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ स्वार्थ है, मतलब है। वे जैसे और जितने आदमी मिलेंगे, वैसी ही, उतनी ही वाणी बोलेंगे। और जैसे जितने भी प्रसंग मिलेंगे, वैसे ही, उतने ही काम करेंगे। अब रहा सोचना, सो पूछिए नहीं। समुद्र के किनारे खड़े हो कर जितनी तरङ्गें आप देख सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरङ्गें होती हैं। उनकी आत्मा इतनी पतित और दुर्बल होती है कि आस-पास के वातावरण का—भय, विरोध और प्रलोभन आदि का उन पर क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है।

* * *

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

चौथे गुणस्थान की यही विशिष्टता है कि उसको स्पर्श करने वाला हिंसा आदि को अच्छा समझना छोड़ देता है। वह उन्हें हेय समझने लगता है। अर्थात् वहाँ विचार और संकल्प का परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं है। अपनी मंजिल से विरुद्ध दिशा में चलने वाला यात्री यदि अपनी दिशा बदल कर अनुकूल दिशा को ग्रहण करले, तो यह उसके लिए बहुत ही महत्त्व-पूर्ण बात होगी। वह पहले भी चल रहा था और अब भी चल रहा है; किन्तु पहले की चाल उसे लक्ष्य से दूर और दूरतर फेंकती जा रही थी और अब वह लक्ष्य की ओर पहुँच रहा है। विरुद्ध दिशा में चलना बन्द कर देने पर यदि अनुकूल दिशा में गति न हो, तो भी कोई घाटे का सौदा नहीं है; क्योंकि ऐसा करने पर यदि लक्ष्य के समीप न पहुँचेगा तो कम से कम, लक्ष्य से अधिक दूर तो नहीं जाएगा। सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाने पर कम से कम इतना लाभ तो हो ही जाता है कि मुक्ति के लक्ष्य से विरुद्ध दिशा में होने वाली गति रुक जाती है।

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान की एक बड़ी महिमा यह मानी गई है कि यदि जीवन में एक बार भी उसका स्पर्श हो जाय, तो अनन्त संसार परीत हो जाता है, अर्थात् भव-भ्रमण

को अनन्तता मिट जाती है और अधिक से अधिक अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन तक ही भ्रमण करना पड़ता है। एक अन्त-मुहूर्त के लिए भी सम्यक्त्व का प्रकाश मिल गया और यदि वह बाद में गुम हो गया, तो भी वह दुबारा अवश्य मिलेगा और आत्मा के समस्त बन्धनों को तोड़ कर फैंक देगा तो, मोक्ष प्राप्त करने का कारण बनेगा।

अनादि काल से—सदैव से–अन्धकार - ही - अन्धकार में भटकने वाले आत्मा ने एक बार प्रकाश देख लिया—सूर्य की एक किरण क्षण-भर के लिए उसके सामने चमक गई; यह क्या साधारण बात है ? जिसने अन्धकार ही अन्धकार देखा है और कभी प्रकाश नहीं देखा, उसके लिए अन्धकार ही सब-कुछ है। वह अन्धकार को ही अपने जीवन की भूमिका मान रहा है। अन्धकार से उसे असन्तोष नहीं है। प्रकाश की उसे कल्पना ही नहीं, तो इच्छा होने का प्रश्न ही कहाँ है ? किन्तु एक बार किसी दीवार में एक सूराख हो गया और सूर्य की सुन्हरी किरण उसके सामने पहुँच गई और चमचमाता हुआ प्रकाश उसने देख लिया। और देखते ही भले वह प्रकाश अदृश्य हो गया, किन्तु फिर तो वह देखने वाला अन्धकार में छटपटाने लगता है। वह अन्धकार में रहेगा, क्योंकि उसे प्रकाश में आने का रास्ता नहीं मिल रहा; किन्तु वह अन्धकार को अन्धकार तो समझने लगा है। प्रकाश की कल्पना उसे आ गई है। अन्धकार में रहता

हुआ भी वह प्रकाश में आने के लिए तरसता है। वह अन्धकार करने वाली दीवारों को गिरा देना चाहता है।

एक प्रकार की आत्माएँ वे हैं, जिन्हें प्रकाश का दर्शन ही नहीं हुआ है। वे अन्धकार ही अन्धकार में हैं और उनका भविष्य भी अन्धकार में है। दूसरे प्रकार की आत्माएँ वे हैं, जिन्हें एक बार प्रकाश मिल चुका है। ऐसी आत्माएँ चाहे फिर अन्धकार में डूब जायँ, मगर उनका भविष्य प्रकाशमय है। वे अन्त तक अन्धकार में नहीं रहेंगी, वे एक दिन महाप्रकाशमय बन जाएँगी।

और, जो अंधकार को पार करके प्रकाश में वर्तमान हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं। क्रोध किया, अभिमान किया, लोभ-लालच किया, और उसको अच्छा समझ लिया। भूल की और उसे अच्छा समझ लिया। तो यहाँ तक मिथ्यात्व की भूमिका रही। सम्यग्दृष्टि की भूमिका आने पर हिंसा हुई; मगर उसे अच्छा नहीं समझा गया: असत्य बोला गया; किन्तु उसे अच्छा नहीं समझा गया। इस प्रकार समकित के आने पर विचारों की भूमिका बदल जाती है; विचारों की भूमिका बदलने से जीवन बदल जाता है और पापों का अनन्त भाग खत्म हो जाता है।

परिस्थिति से विवश होकर हिंसा करना और बात है और हिंसा करते हुए प्रसन्न होना और बाद में भी प्रसन्न होना और बात है। सम्यग्दर्शन के आने पर भी हिंसा का

पाप बंद नहीं हो जाता, किन्तु उस हिंसा को अच्छा समझने का अनन्त पाप अवश्य खत्म हो जाता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के आने पर भी असत्य बोला जाता है, किन्तु उस असत्य को अच्छा समझने का जो महान् पाप है, वह समाप्त हो जाता है।

जीवन का विकास इसी तरीके से होता है। इससे विपरीत, यदि कोई मनुष्य विचार तो बदलता नहीं और आचार बदलने का दिखावा करता है, तो उसका क्या मूल्य है? आचार से पहले विचार बदल जाना चाहिए।

* * *

निमित्त और उपादान

जब उपादान तैयार हो जाता है, तो दुनिया-भर के निमित्त मिल जाते हैं और चेतना जागृत हो जाती है। यदि उपादान तैयार नहीं होगा, तो भगवान् का निमित्त मिल जाने पर भी कुछ लाभ नहीं होगा, उलटे कर्म बंधते रहेंगे और अनन्त-अनन्त संसार परिभ्रमण होता रहेगा।

जैनधर्म ने एक दार्शनिक प्रश्न को हल करने के लिए सब से बड़ी बात यह रक्खी कि तुम निमित्त का आदर करो, किन्तु उससे बढ़ कर भी अपना आदर करो। संसार में सुख और दुःख तुमको जगाने के लिए आ रहे हैं। तुम सोना

हो, तो आग में पड़ कर भी चमकोगे और घास-फूंस बनकर रहोगे, तो जल कर राख हो जाओगे। अन्दर में दुर्बलता है, तो सारा संसार तुम्हें खत्म करने के लिए है और अन्दर में शक्ति है, तो कोई तुम्हारा बाल बांका नहीं कर सकता।

इस प्रकार उपादान महत्त्वपूर्ण है, अतएव अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करो। संसार-भर के निमित्त भी उपादान के बिना कुछ नहीं कर सकते।

साधु जा रहा है और किसी ने उस पर उपसर्ग किया। तब साधु क्या यह सोचता है कि मुझे इस आदमी ने दुःख दिया है? नहीं, वह यह नहीं सोचता और जैन-धर्म ऐसा सोचने की शिक्षा नहीं देता। जैनधर्म ने तो यही सिखाया है कि संसार के सभी सुख और दुःख अपने ही कर्मों के फल हैं और अपनी ही वृत्तियों के परिणाम हैं।

जैनधर्म की यह महान् शिक्षा क्या है? यह निमित्त से उपादान में आना ही है। जैनधर्म उपादान में आने की इस महान् कला को बहुत महत्त्व देता है। तो कष्ट और संकट आने पर यही सोचना उचित है कि यह मेरे ही कर्मों का भोग है, जो जैसा बाँधता है, वैसा ही पाता है।

जैनधर्म कहता है कि तू उपादान की उपेक्षा करके निमित्त को प्रधानता देगा और व्यक्ति के ऊपर जायगा, तो आर्त्त-ध्यान और रौद्रध्यान में चला जायगा, इस लिए तू व्यक्ति को ध्यान में मत रख। यही सोच कि मेरे किये कर्मों का

उदय आया है, तो यह व्यक्ति निमित्त बन रहा है।

पागल कुत्ते को कोई ईंट या पत्थर मारता है, तो वह मारने वाले पर नहीं, उस ईंट-पत्थर पर झपटता है। इसी प्रकार जो कष्ट आने पर अपने कर्मों को न देख कर निमित्त बने व्यक्ति पर झपटता है, वह पागल है, विवेकवान् नहीं है। जैनधर्म ने आज तक हमें यही सिखाया है कि तू अपने आपको देख। संकट के समय में और सुख के समय में भी अपने आपको ही देख।

श्रेणिक राजा नरक में हैं और जब उन पर घोर दुःख आते होंगे, तो वे क्या सोचते होंगे? यही तो कि यह सब मेरे ही किये हुए का फल है। जो बोया है, वही काटा जा रहा है। यह नहीं हो सकता है कि बोये कुछ और काटे कुछ।

और, शालिभद्रजी २६ वें देवलोक में क्या कर रहे हैं? वे भी यही सोचते हैं कि स्वर्ग का यह महान् वैभव मेरे ही कर्मों का फल है और जब तक इसे नहीं भोग लेता, उससे कैसे छुटकारा मिल सकता है? जिस समभाव से श्रेणिक महाराज नरक के दुःख भोग रहे हैं, उसी समभाव से शालिभद्रजी २६ वें देवलोक के सुख भोग रहे हैं। इस प्रकार दोनों जीवन उपादानों को लेकर चल रहे हैं।

तो, शुभोदय से सुख मिल गया है, तो यह अहंकार मत करो कि यह तो मेरे किये हुए कर्मों का फल है, इसलिए मैं

इसे क्यों नहीं भोगूँगा ? और दुःख आ पड़ा है, तो यह मत सोचो कि अमुक ने मुझे दुःख दिया है। दोनों जगह समभाव रख कर सुख-दुःख को भोग लो। इस प्रकार का समभाव उपादान में जाने से ही पैदा होगा।

जैन-धर्म निमित्त को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु यही कहता है कि जहाँ तक तुम्हारी जगह है, वहाँ तक स्वागत है, किन्तु उससे आगे तुम्हारा कोई सम्मान नहीं है और तुम से बढ़कर भी मेरा सम्मान है, जीवन की योग्यता का सम्मान है। वह जैसी होगी, उसी के अनुरूप, मेरा कल्याण होगा।

* * *

अन्तर्जीवन

मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रिया-काण्ड और गंभीर विद्वत्ता व्यर्थ है। जैसे संख्या के अभाव में हजारों बिन्दियों का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार अन्तःशुद्धि के बिना बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं है। जो क्रियाकाण्ड केवल काया से किया जाता है और अन्तरतर से नहीं किया जाता, उससे आत्मा पवित्र नहीं बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्य

आवश्यकता है।

जो बाह्य आचार अन्तःशुद्धि के फलस्वरूप स्वतः समुद्भूत होता है, उसी का मूल्य है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले बाह्य आडम्बर से उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। हम सैकड़ों को देखते हैं, जो बाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते हैं और करते-करते बूढ़े हो गये हैं, किन्तु उनके जीवन में कोई शुभ परिवर्तन नहीं आया। वह ज्यों का त्यों कलुषित बना हुआ है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यांत्रिक है और उसमें आन्तरिकता नहीं है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दंभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारकों का ऐसा खयाल बन गया है कि जो दंभी और पाखण्डी है, वह अपने दंभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बड़ा धर्मात्मा है! उनका यह खयाल एकदम निराधार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दुर्भाग्य से अनेक लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से मलीन करते हैं और उन्हें देख-देख कर लोग उस अनुष्ठान से भी घृणा करने लगते हैं। फिर भी हमारे खयाल से कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते हैं। भले ही उनके क्रियाकाण्ड में आन्त-

रिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव उनका कल्याण कर देता है। और कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक बाह्य क्रियाएँ करते हैं। ऐसे व्यक्ति अभिनन्दनीय हैं। वे निस्सन्देह परम कल्याण के भागी होते हैं।

अन्तःशुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस संबंध में तरह-तरह के विचार जनता के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। उनकी भाषा में भेद हो सकता है, भाव में नहीं। मैं समझता हूँ कि अन्तःशुद्धि के लिए साधक को सब से पहले अपने अन्तरंग को टटोलना चाहिए।

० ० ०

शरीर और आत्मा

हमारा जो मौजूदा जीवन है, वह शरीर और आत्मा दोनों के मेल का फल है। वह शरीर भी है और आत्मा भी है। तात्त्विक दृष्टि से शरीर, शरीर है और आत्मा, आत्मा है। शरीर जड़ है और वह पंच भूतों से बना हुआ है। आत्मा चिदानन्दमय है। और किसी से भी बना हुआ नहीं है। इस जीवन का जब अन्त होता है, तो यह दृश्य शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और आत्मा अपनी अगली महायात्रा के लिए चल देती है। शरीर, आत्मा नहीं हो सकता और

आत्मा, शरीर नहीं हो सकता।

इस प्रकार दोनों की सत्ता अलग-अलग होने पर भी दोनों में बहुत घनिष्ठ और महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। दोनों का एक-दूसरे पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि जब हम जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो शरीर और आत्मा दोनों हमारी नजरों में झूमने लगते हैं और इनमें से किसी एक की उपेक्षा करके हम दूसरे का विचार नहीं कर सकते। अगर कोई इस प्रकार एकांगी विचार करता भी है, तो वह समग्र जीवन के विषय में शुद्ध दृष्टिकोण उपस्थित नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में, मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह आत्मा और शरीर दोनों का यथोचित विकास करे, दोनों को ही सशक्त बनाए, दोनों में ही किसी प्रकार की गड़बड़ न होने दे।

कई पन्थ ऐसे हैं, जो केवल आत्मा की ही बातें करते हैं और जब बातें करते हैं तो उनका मुद्दा यही होता है कि शरीर बीमार रहता है तो रहा करे, हमें इससे क्या सरो-कार है। इसे तो एक दिन छोड़ना है। जब एक दिन छोड़ना ही है, तो इसका क्या लाड़-प्यार ! यह तो मिट्टी का पुतला है। जब टूट जाय, तभी ठीक है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण वे अपने शरीर की ओर यथोचित ध्यान नहीं देते।

इस प्रकार का विचार करने वाले लोग बड़ी लम्बी-लम्बी

और कठोर साधनाएँ करते हैं, किन्तु फिर भी आत्मा को मजबूत नहीं बना पाते हैं।

भगवान् महावीर के युग में ऐसे साधकोंकी संख्या बहुत अधिक थी, जिन्हें अपनी साधना के सही लक्ष्य और उपायों का ठीक-ठीक पता नहीं था, और वे शरीर को दण्डित करने पर तुले हुए थे। भगवान् महावीर ने उनके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया, है, वह कड़ा तो है, मगर सचाई उसमें भरपूर है। भगवान् ने ऐसी साधना को बाल-तप और अज्ञान-कष्ट कहा है।

अभिप्राय यह है कि जो लोग इस शरीर को ही दण्ड देने पर तुल गये हैं, इसे बर्बाद करने को तैयार हो गये हैं, वे समझते हैं कि बुराइयाँ सब शरीर मे ही हैं। सारे अनर्थों का मूल शरीर ही है। अतः इस शरीर को नष्ट कर दिया जाय, तो आत्मा पवित्र हो जायगी।

इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर वे बड़ा भयंकर तप करते हैं। कोई-कोई अपने चारों ओर धूनियाँ धधका लेते हैं और ऊपर से सूर्य की कड़ी धूप को झेलते हैं। जेठ के महीने में इस रूप मे पंचाग्नि तप से तपा कर शरीर को कोयले का ढेर बना लेते हैं। उनकी समझ में शरीर की चमड़ी क्या जलती है, मानों आत्मा के विकार जलते हैं।

जब कड़ी सर्दी पड़ती है, तब ठंडे पानी में खड़े हो जाते हैं। घंटों खड़े रहते हैं और इस प्रकार शीत की वेदना को

सहन करते हैं। वे समझते हैं। कि ऐसा करने से हमारी आत्मा पवित्र हो रही है।

कोई-कोई तापस ऐसे भी हैं; जिन्होंने खड़े रहने का ही नियम ले लिया है। मैंने एक वैष्णव साधु को देखा है, जो निरन्तर सात वर्षों से खड़ा था। उस के पैर सूज कर स्तम्भ हो रहे थे और खून सिमटकर नीचे की ओर जा रहा था। उसने एक झूला डाल रक्खा था कि जब खड़ा न रहा जाय, तो उस पर झुककर आराम ले लिया जाय, किन्तु रहे खड़ी अवस्था में ही। इस रूप में मैंने उसे देखा और पूछा— "यह क्या कर रहे हो ?"

उस साधुने उत्तर दिया—"मैंने बारह वर्ष के लिए खड़े रहने का व्रत ले लिया है।"

उसकी साधना कठोर है और वह शरीर को जो यातना दे रहा है, वह असाधारण है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता; परन्तु भगवान् महावीर की बात याद आ रही है—

"अहो कष्टमहो कष्टं ! पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते।"

कष्ट तो बहुत भयंकर है, किन्तु सत्य की प्राप्ति नहीं हो रही है। अपने जीवन को तो होम रहे हैं, किन्तु वह अलौकिक प्रकाश नहीं मिल रहा है, जिसकी अपेक्षा है और जिसकी प्राप्ति के हेतु यह सब-कुछ किया जा रहा है।

कोई-कोई सूखे पत्ते ही खाते हैं और कोई तो वे भी नहीं खाते। कोई हवा का ही आहार करते हैं। कोई कन्द, मूल

और फल ही खाते हैं।

भगवान् महावीर के युग के कुछ साधकों का ऐसा वर्णन भी आया है कि वे भोजन लाते और इक्कीस-इक्कीस वार उसको पानी से धोते। जब उसका कुछ नीरस भाग वाकी बच रहता, तब उसको ग्रहण करते थे।

ऐसे वर्णन भी आते हैं कि भिक्षा के पात्र में भिन्न-भिन्न कोष्ठक बनवा लेते और गृहस्थ के जाते, तो मन में सोच लेते कि अमुक नम्बर के कोष्ठक में आहार डाला जायगा, तो पक्षियों को खिला दूँगा, और अमुक नम्बर के खाने में डाला, तो अमुक को खिला दूँगा तथा अमुक नम्बर के खाने में डाला हुआ मैं खाऊँगा। इस प्रकार दो, तीन, चार दिन भी हो जाते और उसके निमित्त के खाने में आहार न पड़ पाता। दूसरे के निमित्त के खाने में आहार पड़ता चला जाता, तो आप भूखे रह जाते और वह आहार उसी को खिला दिया जाता, जिसके निमित्त के खाने में वह पड़ता। इस प्रकार की कठोर साधनाएँ पिछले युग में होती थीं और क्वचित् आज भी होती हैं। इन साधनाओं से अकाम-निर्जरा होती है, यह सत्य है; परन्तु परम-तत्त्व की उपलब्धि इन से नहीं होती, अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी नहीं है।

और ऐसी कठोर साधनों की सीमा यहीं तक नहीं है। इन से भी भयानक साधनाएँ की जाती हैं। चले जा रहे हैं,

किसी की कोई चीज पड़ी हुई दीख गई और उसे उठा लिया; मगर उठाने के बाद खयाल आया तो सोचा बहुत गुनाह किया है कि चीज उठा ली। फिर सोचा - यह हाथ न होते तो कैसे उठाता ? और यह पैर न होते, तो कैसे उठाने जाता ? इन हाथों और पैरों की बदौलत ही मैं पाप की कीचड़ में गिर गया—तो, इन्हें समाप्त ही क्यों न करदूँ ? न रहेगा बांस न बजेगी बांसरी और इस प्रकार सोच कर, जानते हैं आप, उन्होंने हाथ-पैरों को क्या सजा दी ? उन्होंने अपने हाथ और पैर काट लिये।

और ऐसा भी वर्णन आता है कि कहीं चले जा रहे हैं और किसी सुन्दर स्त्री पर दृष्टि पड़ गई, तो विकार जाग उठा और विकार जागा तो, सोचा कि इन आँखों के कारण ही विकार जागा है। यदि आँखें न होतीं तो देखता ही नहीं और देखता ही नहीं, तो विकार जागता भी नहीं। उन्होंने लोहे की गर्म शलाकाएं लीं और आंखों में भौंक ली और अन्धे बन गये।

आजकल भी इस प्रकार के तपस्वी कहीं-कहीं पाये जाते हैं। एक सन्त थे, जिन्होंने दो-तीन वर्ष से अपने होठों को तार डाल कर सीं रक्खा था, जिससे बोल न सकें। मुँह खुला रहेगा, तो बोल निकल जायगा। अर्थात् उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं था, तो मुँह को भी सीं लिया। मुँह को ही सीं लिया, तो खाना कैसे खाएँ ? बस छेदों में से आटे का

पानी तुतई के द्वारा हलक के पार उतारा जाने लगा।

भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के युग में भी कैसे-कैसे कठोर साधक थे! आगमों में उनका वर्णन पढ़ते हैं, तो मालूम होता है कि वे शरीर को तो नष्ट करने पर तुल पड़े थे। उन्होंने फैसला कर लिया था कि सारे पापों की जड़ शरीर ही है। इसको जल्दी से जल्दी नष्ट कर डालने में ही आत्मा का कल्याण और जीवन का मंगल है। शरीर का खात्मा होते ही हमारे लिए ब्रह्म-धाम का भव्य द्वार खुल जायगा, सारे बन्धन टूक-टूक हो जायँगे और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो जायगी।

उन्हें यह पता नहीं था कि जब तक मन की कुवृत्तियाँ समाप्त नहीं होतीं, तब तक शरीर को अगर आग में भी झोंक दिया जाय, तब भी कोई लाभ होने वाला नहीं। ऐसा करने से पुराना शरीर छूट जायगा, तो फिर नया शरीर मिलेगा। शरीर की आत्यन्तिक समाप्ति होने वाली नहीं। क्योंकि जब तक कारण नष्ट नहीं होता, तब तक तज्जन्य कार्य भी नहीं रुक सकता। आग जल रही है और उसमें हाथ डाल दिया जाय और वह न जले, यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसी प्रकार शरीर को जन्म देने वाली जो वृत्तियाँ हैं, राग-द्वेष की परिणतियाँ हैं, क्रोध-मान माया और लोभ-रूप विकार हैं, जब तक इन का विनाश नहीं हो जाता, तब तक एक के बाद बराबर दूसरा शरीर धारण करना ही है। इस आत्मा

ने अनन्त-अनन्त शरीर लिए हैं और छोड़े हैं।

यदि शरीर को छोड़ देने मात्र से ही कल्याण हो जाता हो, तब तो संसार के प्रत्येक प्राणी का कल्याण न हो गया होता अब तक ?

इस दृष्टि-कोण को सामने रख कर भगवान् महावीर ने इन तपों को बाल-तप कहा है और अज्ञान-जनित काय-कष्ट कहा है। इसके पीछे कोरे कष्ट की साधना के सिवाय और कुछ नहीं है। जब इतनी बड़ी-बड़ी साधनाओं को, केवल कष्ट के रूप में, बाल-तप या अज्ञान-तप कहा है, तो मैं समझता हूँ कि उनका निर्णय स्पष्ट निर्णय है। उनका निर्णय संसार के लोगों के लिए आँखों को खोल देने वाला निर्णय है।

आंखों से विकार उत्पन्न होता है, तो मन पर नियंत्रण करो, आंखों को फोड़ देने से कुछ नहीं होगा। चोरी की है, तो हाथों ने तो उनको ही काट देने से कोई लाभ नहीं होगा। किसी को मारने दौड़े या किसी चीज को उठाने दौड़े, पश्चाताप आया और पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली, तो इससे आत्मा पवित्र नहीं हो जाएगी।

हाथ और पैर बहुमूल्य चीजें हैं। जहाँ दूसरों को दुःख देने के लिए इनका प्रयोग किया जा सकता है, जहाँ इनके द्वारा दूसरे को नदी में धक्का दिया जा सकता है, वहाँ नदी में से किसी डूबते हुए को निकाल लेने में भी तो इनका

उपयोग किया जा सकता है ! ये तो हमारे साधन हैं। यदि इन साधनों का विवेक पूर्वक उपयोग किया जाय. तो कल्याण ही कल्याण है।

* * *

धर्म और जीवन

जैन-धर्म ने जन-मानस को एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी है। उसने जनता को और धर्म को अलग-अलग नहीं समझा। चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उसकी रोजमर्रा की जिन्दगी धर्म से अलग नहीं है। धर्म मानव-जीवन से भिन्न नहीं है।

मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय या पन्थ का अनुगमन करे, उसके जीवन में धर्म सतत ओत-प्रोत रहना चाहिए। जैन-धर्म ने जब इस दृष्टि-कोण को सामने रक्खा, तो उसने दूर-दूर तक की बातें कहीं। उसने हमें यह सोचने की प्रेरणा दी कि तुम्हें बोलना है, खाना-पीना है, उठना-बैठना या कोई भी काम करना है, तो यह देखो कि उसमें धर्म है या नहीं ? यहाँ तक कि वह चूल्हे और चौके तक भी धर्म को ले गया।

रोटी बनाना है, खाना बनाना है, मकान बनवाना है, अर्थात् संसार में रहकर जीवन की जिन किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है, उन सब में अगर विवेक है, जनता के कल्याण का विरोध नहीं है, अपने आपको पाप से बचाने

की प्रेरणा चल रही है, तो उतने अंशों में वहाँ धर्म है।

जन्म से मरण पर्यन्त, जो भी काम हैं, उन सब के विषय में यही सोचना पड़ेगा कि उन में तुम धर्म के रूप पर ध्यान देते हो या नहीं ? अगर उक्त प्रेरणाएँ तुम्हारे जीवन-व्यवहार में मौजूद हैं, तो कहा जायगा कि तुमने धर्म की ऊँचाई को समझा है और तुम्हारा जीवन धर्ममय है। और यदि उक्त प्रेरणाएं व्यवहार में नहीं हैं, तो तुम्हारा जीवन अधर्ममय है।

दुर्भाग्य से जनता ने आज धर्म का दूसरा ही रूप समझ लिया है। लोग समझते हैं कि जब हम मन्दिर, मस्जिद, गिरजा या स्थानक में जाते हैं और वहाँ किसी प्रकार का क्रियाकाण्ड करते हैं, तो धर्मोपार्जन कर लेते हैं। और ज्यों ही धर्म-स्थान से बाहर निकले कि फिर हमारे जीवन का धर्म से कोई वास्ता नहीं रह जाता।

इस समझ के कारण जन-जीवन कलुषित बन जाता है, जीवन में एकरूपता नहीं पैदा हो पाती। आज का मानव धर्म-स्थान में घड़ी-दो-घड़ी के लिए जाता है, तो धर्म की बातें करता है और किसी रूढ़ क्रियाकाण्ड से चिपट जाता है और ज्यों ही बाहर निकलता है, तो अपने-आपको धर्म के सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त पाता है! जहाँ जीवन में यह बहुरूपियापन है, वहाँ धर्म नहीं है।

मनुष्य रोटी खाकर नहीं कहता कि अब मैं फिर कभी

रोटी नहीं खाऊँगा। कमाई का काम करके नहीं कहता कि बस, दो घड़ी कर चुका, अब नहीं करूँगा। मगर धर्म के विषय में कहता है कि घड़ी-दो-घड़ी धर्म कर लिया है, क्या दिन-रात वही किया करूँ ?

इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं ने आज जनता के जीवन को धर्म-विमुख बना दिया है।

किन्तु, जैन-धर्म यह कहता है कि धर्म-स्थान में जाकर विशेष आराधना करते हो, सामायिक-पौषध स्वाध्याय, ध्यान, भगवत्स्मरण आदि करते हो, और जीवन का चिन्तन और प्रभु का स्मरण करते हो, सो सब ठीक है। किन्तु धार्मिक कर्त्तव्य की समाप्ति इतने में ही नहीं हो ज. '। तुम्हें जनता के सम्पर्क में जहाँ कहीं जाना हो, धर्म के संस्कार लेकर ही जाना चाहिए। मकान पर और दुकान पर भी धर्म की वासना अन्तःकरण में बनी रहनी चाहिए। देश और विदेश में सर्वत्र धर्म की भावना जागृत ही रहनी चाहिए। नौकरी करते हो, तो दफ्तरमें या कार्यालय में भी धर्म को साथ लेकर जाना चाहिए। आशय यह है कि जहाँ जीवन है, वहाँ धर्म है; धर्म से अलग जीवन नहीं है। इस प्रकार जीवन जब धर्ममय बन जाता है, धर्म के रंग में रंग जाता है, तभी आत्मा का उत्थान होता है।

* * *

जैन-धर्म का सन्देश

जैन-धर्म मनुष्य के सामने सदैव यह सन्देश रखता आया है कि—मनुष्य ! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान। तेरा जीवन संसार में भूलने-भटकने के लिए नहीं है। तेरा जीवन भूमि पर रेंगते-रेंगते और रगड़ खाते-खाते चलने के लिए नहीं है। तू संसार में सबसे ऊँचा बन कर आया है। अनन्त-अनन्त पुण्य का परिपाक होने पर तू ने मनुष्य का अवतार धारण किया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है, वह इतनी महान् और दिव्य है कि देवताओं की पवित्रता का भी उसके सामने कोई मूल्य नहीं है।

यह सन्देश देकर जैन-धर्म ने अपने-आपको तुच्छ, दीन, हीन और कुछ भी न समझने की भ्रान्ति को निकालने का प्रयत्न किया है और उसके 'अहम्' को जगाया है। हमारे जीवन के चारों ओर जैनधर्म की एक ही आवाज गूँज रही है—

'अप्पा सो परमप्पा।'

अर्थात्—आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा पवित्र ईश्वर का रूप है।

इस प्रकार जैनधर्म ने मनुष्य को एक बहुत बड़ा आदर्श यह दिया है कि तू नीचा बनने के लिए नहीं है, किन्तु ऊँचा चढ़ने के लिए है। तेरे भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी पड़ी

हैं, असंख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है। तेरे अन्तर में परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। गलतियाँ करके तू ने अपने ऊपर धूल डाल रक्खी है और इस कारण वह भीतरी चमक दब गई है। अब तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नहीं है। तुझे अपने ऊपर जमी हुई धूल अलग कर देना है। और ज्यों ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाना है, वह तो अन्दर मौजूद ही है। वह बाहर से नहीं मिलता है। तुझे भगवान् महावीर बनना है तो बन सकता है, महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है, सो ही बन सकता है। बस, जमी हुई धूल को झाड़ दे। एक कवि ने कहा है—

'पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान।'

यह बात हमारे सामने निरन्तर आती रहती है कि जैन-धर्म ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बड़ी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है। मनुष्य अपने 'अहंभाव' को भूल गया था और अपनी ज्योति को उसने भुला दिया था। जैनधर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह पर भूला हुआ यात्री है। सही पगडंडी को पहचान ले और उस पर बढ़ चल, फिर तेरी मंजिल कहाँ दूर है?'

* * *

धर्म का हृदय

चाहे जैनधर्म हो, चाहे और कोई धर्म हो, यदि गहराई के साथ उसका अध्ययन, चिन्तन और मनन किया जाय, तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि प्रत्येक धर्म का प्राण या हृदय अहिंसा में ही रहा हुआ है।

हमारा शरीर कितना ही बलवान् क्यों न हो, मजबूत क्यों न हो और लम्बा-चौड़ा भी क्यों न हो, जब तक उसमें दिल काम करता रहता है, हृदय टक-टक करता रहता है, तभी तक यह शरीर चलता है और जब तक इसका एक-एक अंग हरकत करता है तभी तक सारे शरीर पर हमारा अधिकार रहता है। किन्तु ज्यों ही हृदय की हरकत में जरा भी गड़बड़ हुई, हृदय का स्पन्दन जरा-सी देर के लिए भी रुका कि यह भारी-भरकम शरीर एकदम बेकार हो जाता है, चलता-चलता सड़क पर ही लुढ़क जाता है।

हृदय, शरीर में छोटी-सी जगह रखता है, फिर भी सारे शरीर का उत्तरदायित्व, सम्पूर्ण प्राण-शक्ति, उसी में केन्द्रित है। हृदय धक-धक करता रहेगा और रक्त को ठीक-ठीक फैंकता रहेगा, तो प्राणों की झनकार रहेगी, शरीर रहेगा। यदि हृदय गुम हो जाय, उसकी हरकत बन्द हो जाय, वह काम करना छोड़ दे, तो क्या शरीर रह सकेगा ? नहीं, शरीर नहीं रह सकेगा, मात्र लाश रह जायगी।

शरीर तब तक रहता है, जब तक आत्मा उसमें रहती है। आत्मा के निकल जाने के बाद शरीर, शरीर नहीं रहता। आगमों की भाषा में भी वह शरीर नहीं कहलाता। इसीलिए तो कहते हैं कि आगमकार एक-एक इञ्च नाप कर चलते हैं। और जिनके कदम देखकर आज हम चलते हैं, वे कहते हैं कि जब तक शरीर में आत्मा है तभी तक शरीर, शरीर है। आत्मा जब निकल जाती है, तो वह मिट्टी का ढेर है। भूतपूर्व के दृष्टि-कोण से भले ही स्थूल भाषा में उसे शरीर कहते रहें।

जो बात इस शरीर के सम्बन्ध में देखते हैं और सोचते हैं, वही धर्म के सम्बन्ध में भी है। कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसका क्रियाकण्ड कितना ही उग्र और घोर क्यों न हो, तपस्या कितनी ही तीव्र क्यों न हो और ऐसा जान पड़ता हो कि दुनिया-भर का बोझ उस धर्म या व्यक्ति ने अपने ऊपर ओढ़ लिया है; किन्तु जब तक उसमें अहिंसा की भावना रहेगी, जीवों के प्रति दया का झरना बहता रहेगा, तभी तक वह धर्म, वह क्रियाकाण्ड, वह तप और वह परोपकार धर्म की कोटि में गिना जायगा। तभी तक सत्य भी धर्म है, दान भी धर्म है, नवकारसी से लेकर छः महीने तक की तपस्या आदि क्रियाकाण्ड भी धर्म है। यदि उसमें से अहिंसा निकल जाय तो फिर वह धर्म नहीं रहेगा, धर्म की लाश रहेगी। वहाँ एक रूप में अधर्म ही होगा? अहिंसा

मूल में रहनी चाहिए, फिर चाहे वह थोड़ी हो या ज्यादा हो, न्यूनाधिक की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि अहिंसा का जरा भी अंश न रहे, तो फिर वहाँ धर्म नहीं रह सकता।

* * *

सत्य बड़ा या व्यक्ति ?

सत्य के महत्त्व के सामने महान् से महान् व्यक्ति भी हीन है। हम व्यक्ति को महत्त्व देते हैं किन्तु विचार करने से विदित होगा कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिला है। अपने-आप में व्यक्ति का क्या महत्त्व है? वह तो हड्डी और मांस का ढांचा है। मगर जब वह सत्य की पूजा के लिए चल पड़ता है, सत्य की ही परछाईं में रहता है और सत्य के साम्राज्य में विचरता है, तो उसकी पूजा की जाती है, उसका आदर-सम्मान किया जाता है। वह पूजा, वह आदर और सम्मान उसके ढाँचे का नहीं, उसकी सत्य-निष्ठा का है।

एक आदमी सीधा खड़ा होता है और उसका सिर अगर छत से छू जाता है, तो उसकी हड्डियों की ऊँचाई देखने वालों को तमाशा जरूर बन सकती है, पर वह हमारी श्रद्धा, भक्ति का पात्र नहीं हो सकता। किन्तु विचारों की, जीवन की और सत्य की जो ऊँचाई है, वही आदर-सम्मान की चीज बनती है। यह ऊँचाई तमाशा नहीं, चरणों में झुकने की चीज है।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि आप व्यक्तियों को क्यों महत्त्व देते हैं? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, इस प्रकार कह कर आप लाठियाँ चलाते हैं और सत्य जो खड़ा-खड़ा कुछ कह रहा है, उसकी पुकार नहीं सुनते! यह स्थिति देख कर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ चल रही है? यह तथ्य हमें हृदयंगम कर लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और व्यक्ति का जो महत्त्व है, वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्त्व सत्य के पीछे है। सत्य के बड़प्पन से ही व्यक्ति में बड़प्पन आता है।

एक जैनाचार्य बहुत बड़ी बात कह गये हैं, जो बड़े विद्वान् हो चुके हैं और जिनकी विद्वत्ता को काल की छाया भी धुँधला नहीं कर सकी। उनकी वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

—हरिभद्र

—भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नहीं है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नहीं और सगे-सम्बन्धी भी नहीं हैं। किन्तु आखिरकार वे भगवान् हो गये हैं, तो उनकी वाणी के सम्बन्ध में हम जो विचार करते हैं, सो किसी तरह का पक्षपात लेकर विचार नहीं करते। और कपिल आदि

जो ऋषि-महर्षि हो गये हैं, उनके प्रति हमें द्वेष नहीं है, घृणा नहीं है। जो भी सत्य के उपासक आये हैं, हम उन सब के विचारों को लेकर बैठ गये हैं और उन सब की वाणी का चिन्तन और मनन करते हैं। जिसके विचार सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी के विचारों को हम स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी तराजू पर रख दिया है। किन्तु आचार्य सत्य को तोल रहे हैं और वह बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर अमुक सम्प्रदाय-विशेष को रख कर तोला जाय, तो वह तोल पर पूरा उतरता नहीं है। हाँ, सत्य को रख कर तोलने चलोगे, तो वह तोल ठीक होगी।

आखिर, आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् की पूजा क्यों करते हैं? उनका सत्कार और सम्मान क्यों करते हैं? उनके पीछे जो सत्य-मार्ग है, वही तो उनकी पूजा और सत्कार-सन्मान करवाता है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो भगवान् के ही मुँह से कहलाया है—

तापाच्छेदान्निकषाच्च, सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात् ॥

भगवान् ने अपने सब शिष्यों के सामने कहा—हे भिक्षुओ ! साधुओ ! मेरे वचनों को भी जाँचो। मेरे वचनों

को भी परखो। जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे तुम्हें ग्रहण करने योग्य लगें, तो ग्रहण करो। मेरे बड़प्पन के कारण ही मेरे वचनों को मत मानना। सत्य का पक्ष न रखकर मात्र गुरू का ही पक्ष रखना किसी प्रकार उचित नहीं है।

कितनी बड़ी बात कही है! जो सत्य का निर्णय करने चले हैं, वे व्यक्ति-विशेष को ज्यादा महत्त्व नहीं देते, सत्य को ही ज्यादा महत्त्व देते हैं।

* * *

अन्तर्जागरण

भगवान् महावीर ने कहा है कि हर क्षण जीवन में जागते रहो। क्या सबब है कि जागते हुए भी सो जाओ? और बाहर में सोते हो, तब भी अन्दर में जागृत रहो—

'असुत्ता मुणी'

'मुणिणो सया जागरंति'

—आचारांग

साधक जागता है, तब भी जागता है और सोता है, तब भी जागता है। वह जब अकेला है, तब भी जागता है, सबके बीच में है, तब भी जागता है। नगर में है तब भी जागता है, और वन में है तब भी जागता रहता है—

"से दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा ।
सुत्ते वा जागरमाणे वा ।"

—दशवैकालिक सूत्र

इस प्रकार साधक को प्रत्येक परिस्थिति में एक ही मार्ग पर चलना है। अकेले में भी और हजारों के बीच में भी, सोते भी और जागते भी, वन में भी और नगर में भी। यह जीवन की गम्भीर समस्या है।

आपने राजस्थान की वीर नारियों के सम्बन्ध में सुना होगा और उस मीरा के सम्बन्ध में तो अवश्य ही, जिसने महलों में जन्म लिया और सोने के महलों में ही जिसका विवाह किया गया और एक दिन जिसे संसार की ताकत ने कहा कि उसे महलों में ही बन्द कर दो, तथापि वह वैभव में बन्द नहीं हो सकी। भगवत्प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कण-कण में उमड़ता रहा। उसने सोने के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर कहा है:—

'हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय॥'

हाँ, तो जो साधक है, वह शूली पर बैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम हैं, शूली की नोंक पर हैं। वहाँ दूसरी कोई फूलों की सेज नहीं है। फूलों की सेज पर सोने वाले तो सम्राट् हैं और खर्राटे लेना चाहें तो वे ले सकते हैं। मगर जो साधना की शूली की सेज पर

बैठा है, वह खर्राटे नहीं ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधक ने अहिंसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञाएँ ली हैं, उनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है। इस दृष्टिकोण से हर साधक को जाग्रत रहना है।

* * *

धर्म का मूल

विश्व के सभी धर्मों ने, घूम फिर कर ही सही, अन्ततो-गत्वा अहिंसा का ही आश्रय लिया है। मनुष्य के चारों ओर पार्थिव जीवन का मजबूत घेरा पड़ा हुआ है। उसे तोड़ कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए अहिंसा के बिना गुजारा नहीं है। कौन ऐसा धर्म है, जो अपने प्रभु से मिलने के लिए और सब-कुछ तो लेकर चले, किन्तु अहिंसा को छोड़ कर चले ? इसीलिए ईसा को भी यह कहना पड़ा कि—'यदि तू प्रार्थना के लिए धर्म-मन्दिर में जा रहा है और उस समय तुझे याद आ जाय कि मेरी अमुक व्यक्ति से अन-बन या खटपट है, तो तुझे चाहिए कि तू वहीं से लौट-जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमा-याचना कर। अपने अपराधों की क्षमा-याचना किये बिना, प्रार्थना करने का तुझे अधिकार नहीं है।' इतना ही नहीं, वह आगे यह भी कहता है—'यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे, तो तू

दूसरा गाल भी उसके सामने कर दे।' यह है वह अहिंसा का स्वर, जो आपकी मान्यता के अनुसार अनार्य देश में पैदा हुए एक साधक के मुख से भी गूंज उठा है!

अहिंसा जैनधर्म का तो प्राण ही है। उसकी छोटी-से छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक साधना में अहिंसा का जीवन-संगीत चलता रहता है। जैनधर्म का नाम लेते ही जो अहिंसा की स्मृति सर्व-साधारण को हुआ करती है, वह भूमण्डल पर जैनधर्म के अहिंसा-सम्बन्धी महत्‌ प्रतिनिधित्व का परिचायक है। जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए किये जाने वाले व्रत-विधान में पहला स्थान अहिंसा का है। जैन गृहस्थ भी सबसे पहले अहिंसा की ही प्रतिज्ञा लेता है और जैन साधु भी। अल्पता और महत्ता को लेकर दोनों की अहिंसा में कुछ अन्तर है, किन्तु अहिंसा की प्राथमिकता में कोई अन्तर नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जैनधर्म अहिंसा को ही महत्त्व देता है, दूसरे सत्य आदि व्रतों को नहीं। अपने यहाँ सभी व्रत महान्‌ हैं, उपादेय हैं। किन्तु कहना यह है कि अन्य सब व्रतों का मूल अहिंसा है।

अहिंसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा और ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिक सकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम हैं, उन सब के मूल में अहिंसा है। जमीन है, तभी तो यह विशाल महल खड़ा हुआ है और

छत है, तभी तो आप इस पर बैठे हैं। आधार के अभाव में आधेय कहाँ टिकेगा ? यह सारे संसार का वैभव खड़ा है, सो भूमि के सहारे ही तो खड़ा है ! इस रूप में अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है, वहीं सत्य, करुणा, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेंगे। अहिंसा न हो, तो कुछ भी टिकने वाला नहीं है।

* * *

सामायिक का चमत्कार !

जैन-धर्म का सामायिक-धर्म बहुत विराट् एवं व्यापक धर्म है। यह आत्मा का धर्म है। अतः सामायिक न किसी की जात पूछता है, न देश पूछता है, न रूप-रंग पूछता है, और न मत एवं पन्थ ही। जैनधर्म का सामायिक साधक से विशुद्ध जैनत्व की बात पूछता है, उस जैनत्व की, जो जात-पांत, देश और पंथ से ऊपर की भूमिका है। यही कारण है कि माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे हुए सामायिक की साधना की, और मोक्ष में पहुँच गई। इला-पुत्र एक नट था, जो बाँस पर चढ़ा हुआ नाच रहा था। उसके अन्तर्जीवन में समभाव की एक नन्हीं-सी लहर पैदा हुई, फैली और इतनी फैली कि अन्तर्मुहूर्त में ही बाँस पर चढ़े-चढ़े केवल ज्ञान हो गया। यह है चमत्कार सामायिक का !

सामायिक किसी अमुक वेष-विशेष में ही होता है,

अन्यथा नहीं, यह जैन-धर्म की मान्यता नहीं है। सामायिक-रूप जैनत्व वेष में नहीं, समभाव में है, माध्यस्थ्य भाव में है। राग-द्वेष के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है, और यह मध्यस्थता ही अन्तर्जीवन की ज्योति है। इस ज्योति को किसी वेष-विशेष में बांधना सामायिक का अपमान करना है। और यह सामायिक का अपमान स्वयं जैनधर्म का अपमान है। भगवती-सूत्र में इसी चर्चा को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर है। वह द्रव्य लिंग की अपेक्षा भाव लिंग को अधिक महत्त्व देता है। द्रव्य लिंग कोई भी हो, सामायिक की भावना प्रस्फुरित हो सकती है। हाँ, भावलिंग—कषाय विजय रू जैनत्व सर्वत्र एकरस होना चाहिए। उसके विना सब शून्य है, अन्धकार है!

* * *

तप किस लिए ?

तपस्या के लिए तपस्या और तप के लिए तप, यह जैन-धर्म की धारणा नहीं है। केवल तप करने के लिए ही तप करना, यह जैन-धर्म की साधना नहीं है। जैन-धर्म में तप करने का अर्थ है, विकारों को शान्त करना, अपने मन के विकारों को दूर करना। जब तक आत्मा मन के विकारों को शान्त नहीं कर पा रहा है—क्रोध, अभिमान, माया, लोभ और वासना को दूर नहीं फैंक रहा है, तब तक व्यर्थ

के देह-दण्ड-रूप तप से क्या लाभ ? कल्पना कीजिए, तप करने पर भी मन शान्त नहीं हुआ, ठंडा होने के बजाय वह और गर्म हो उठा, उलझन में पड़ गया, तो ऐसी स्थिति में जैन-धर्म में उसे पारने के द्वारा शान्त करने की बात कही गई है। हमारे यहाँ तप और पारणा दोनों का ही महत्त्व है।

भगवान् महावीर का एक नाम था—वर्द्धमान ! यानी निरन्तर बढ़ता रहने वाला। और हम देखते हैं कि भगवान् महावीर की आत्मा साधना के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती ही चली गई। वह ऐसा सिंह था, जिसने संकटों और आपत्तियों से घबड़ा कर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। यही कारण है कि वे 'वर्द्धमान' नाम से भी पुकारे जाते हैं।

भगवान् ने तपस्या की और छः-छः महिने की तपस्या की। वह एक दिन, दो दिन—इस प्रकार छः-छः मास तक निरन्तर तप के क्षेत्र में, शान्ति के क्षेत्र में और विजय के क्षेत्र में कदम-कदम पर निरन्तर आगे बढ़ते गये और जब छः मास की तपस्या से निवृत्त हुए, और जब उन्होंने पारने की आवश्यकता महसूस की, तो पारना भी किया। वह नगर की गलियों में घूमे और सद्भावना-भरा हृदय वाला अगर कोई गृहस्थ उन्हें दिखलाई पड़ा, तो उन्होंने तत्क्षण उसके सम्मुख हाथ फैला दिया, और उससे आहार प्राप्त किया। इस प्रकार जीवन के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़े। और जीवन की सर्वोत्कृष्ट ऊँचाई प्राप्त की।

हाँ, तो आवश्यकता इस बात की है कि इसे हम दर्शन के प्रकाश में देखें। वस्तु-तत्व को समझने के लिए विकसित बुद्धि से काम लें। और अगर ऐसा करते हैं, तो तप या पारने के पीछे पागल होने की असलियत हमारी समझ में सहज ही में आ जायगी। वास्तविकता यह है कि मन के विकारों को दूर करने के लिए जब जिस क्रिया की आवश्यकता महसूस करो, तभी वह क्रिया करो और जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ो। जरूरत हो तो तप भी करो और पारने की आवश्यकता हो तो पारना भी करो। स्वाध्याय की आवश्यकता का अनुभव करते हो तो स्वाध्याय करो। तपस्या, साधना और पारने से बँधो मत! बँधो केवल जीवन की पवित्रता के साथ! और इसको कायम रखने के लिए जब जिस क्रिया की आवश्यकता समझो, उस क्रिया को अमल में लाओ।

* * *

पाप, पुण्य और धर्म

भारत के जितने भी धर्म और सम्प्रदाय हैं, प्रायः उन सब में पुण्य और पाप की व्यवस्था की गई है। हमारे समस्त पड़ोसी धर्मों ने अधिकतर पुण्य और पाप की भाषा में ही सोचा है। किन्तु जैनधर्म इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी बात

को भी बहुत अधिक महत्त्व देता है। वह क्या है? पाप और पुण्य को तो वह स्वीकार करता ही है, पर इससे भी ऊपर एक तत्त्व को वह और स्वीकार करता है, जिसे धर्म, निर्जरा और शुद्धोपयोग कहते हैं।

भारत के पुराने धर्मों में एक मीमांसा-धर्म है, जो वेदों का जबर्दस्त समर्थक और अनुयायी रहा है और यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्ड का कट्टर हामी रहा है। गौतम आदि ग्यारह गणधर भी पहले इसी धर्म से सम्बन्ध रखते थे। भगवान् महावीर से पहले यह एक विराट धर्म माना जाता था। किन्तु, वह भी पुण्य और पाप—इन दो ही तत्त्वों में अटक गया—नरक और स्वर्ग तक ही पहुँच पाया। उसने कहा कि जो असत् या दुष्ट कर्म करते हैं, बुराइयों में लगे हुए हैं और दुनिया-भर के विकारों में फँसे हुए हैं, वे नरक के भागी होते हैं। इस प्रकार पाप का फल नरक बता कर लोगों को पाप से हटाने का प्रयत्न किया और कहा कि पाप जीवन का लक्ष्य नहीं है। जब पाप का फल-नरक लक्ष्य नहीं, तो पाप भी कैसे लक्ष्य हो सकता है?

मनुष्य जो भी काम करता है, फल के लिए करता है। जो फल मनुष्य को अभीष्ट नहीं है, जिसे वह अच्छा नहीं समझता है, बल्कि बुरा समझता है, उसको पाने की साधना को भी वह बुरा ही समझेगा। अर्थात् पाप का फल—हमें अभीष्ट नहीं है, तो पाप भी अभीष्ट नहीं है। इस रूप

में पाप का फल नरक बतलाकर मनुष्य को पाप से हटाने का प्रयत्न किया।

मीमांसा-धर्म के अनुसार दूसरा जीवन स्वर्गका है। जो भी सत्कर्म किये जाते हैं, यज्ञ-याग, दान, सेवा आदि प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, किसी को सहायता दी जाती है, प्रभु का नाम लिया जाता है, इन सब सत्कर्मों का परिणाम स्वर्ग है। मतलब यह कि हम जो भी पुण्य के काम करते हैं, उनका फल शुभ होता है और वह स्वर्ग के रूप में हमें मिल जाता है।

इस प्रकार स्वर्ग अभीष्ट है, तो पुण्य भी अभीष्ट होना चाहिए। उस रूप में जीवन की दूसरी धारा स्वर्ग में जाकर अटक गई है और जीवन दो किनारों में बन्द हो गया है। जीवन के एक ओर पाप और दूसरी ओर पुण्य है। एक तरफ नरक है और दूसरी तरफ स्वर्ग है।

किन्तु, स्वर्ग से भी ऊँची कोई चीज है और स्वर्ग के देवताओं के सिंहासन-से भी ऊपर कुछ है, मीमांसा-धर्म ने इस तथ्य को नहीं समझा। उसकी दृष्टि उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकी और उसने उसके सम्बन्ध में इन्कार कर दिया।

आज आर्य समाज की जो धारणाएँ हैं, वे भी पुण्य और पाप तक पहुँच कर ही अटक गई हैं। आर्य समाज ने मीमांसा-धर्म की पुरानी परम्पराओं को पूर्ण रूप में

स्वीकार नहीं किया है, किन्तु पुण्य-पाप के रूप में ही उसने अपनी धारणाओं को ठीक-ठाक कर लिया है। उसकी मान्यता है कि पुण्य करने से उत्थान और पाप करने से पतन होता है। जैसे झूले में झूलने वाला कभी ऊपर और कभी नीचे आता है और वहाँ अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर पाता है, इसी प्रकार जीवन का भी कोई लक्ष्य स्थिर नहीं है।

तो, मीमांसा-धर्म के पहले जो विचार थे, वे अब उस रूप में नहीं मिलते, किन्तु आज भी टूटे हुए खंडहर तो मिल ही जाते हैं।

इस रूप में मैंने कहा है कि मीमांसा-धर्म और दूसरे साथी धर्म, पुण्य और पाप के रूप में सोचते हैं, इनसे ऊपर के महामार्ग को वे नहीं देखते। किन्तु जैनधर्म ने पुण्य और पाप से भी अलग एक और मार्ग ढूँढा है। जैनधर्म कहता है कि जब तक जीवन का किनारा नहीं पाया और जब तक पुण्य और पाप मौजूद हैं, आत्मा उस महासागर में ही थपेड़े खाती रहेगी, ऊपर आएगी और फिर डूबने लगेगी। वह कभी ऊपर और कभी नीचे आती ही रहेगी और इस रूप में यदि जीवन की समस्याओं को नापने चलेंगे, तो अनन्त-अनन्त काल तक भी डूबना और उतराना ही होता रहेगा। जीवन का कोई भी लक्ष्य स्थिर होने वाला नहीं है। तो पाप और पुण्य से भी ऊपर जो मार्ग है, वह धर्म का मार्ग है।

योग-दर्शन के भाष्यकार भी दो ही चीजों को मान कर चलते हैं। वे कहते हैं—

चित्तनदी उभयतो वाहिनी, वहति पुण्याय, वहति पापाय च।
—पातञ्जल योगदर्शनभाष्य।

अर्थात्—चित्त या मन की नदी दो ओर वहती है। वह पुण्य की ओर भी वहती है और पाप की ओर भी वहती है। इसका अर्थ यह है कि वह पुण्य और पाप के दोनों तटों के बीच ही सीमित है। इनसे अलग तीसरी कोई राह नहीं है। किन्तु जैन-दर्शन इससे सहमत नहीं है। वह कहता है कि हमारा अन्तर्जीवन, जहाँ संघर्ष चलते रहते हैं और कभी उठती हुई और कभी बैठती हुई लहरें होती हैं, वह गरजता हुआ महासागर है। वहाँ जीवन की धारा तीन रूप में वहती है—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग।

एक मनुष्य हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार करता है, परिग्रह का संचय करता है, क्रोध, मान, माया और लोभ के विकारों में फँसा रहता है, उसके जीवन की धारा कलुषित रहती है, उसमें दुर्गन्ध आती है। और जब वह इस रूप में रहता है, तो अशुभोपयोग में रहता है। वहाँ भी चिन्तन और ज्ञान है, किन्तु वह ऐसा पानी है, जो गंदी नाली में वह रहा है।

आखिरकार, जो गंदी मोरी है और शहर-भर की गंदगी

ढोने वाली नालियाँ हैं और जो दुर्गंध बहाती चल रही हैं, कोई पूछे कि उनमें पानी है या नहीं ?

हाँ, पानी तो है। पानी न हो, तो वह बहे कैसे ? और उस गंदगी को लेकर चले कौन ? तो, उनमें पानी तो मानना ही पड़ेगा। मगर उस पानी में गंदगी भर गई है और कूड़ा-कचरा मिल गया है।

इसी प्रकार पाप में भी चेतना है। मनुष्य हिंसा करता है, तो हिंसा करने में उसका जो निज गुण है, ज्ञान-शक्ति है और अन्तश्चेतना है, वही उस कूड़े-कचरे को बहाये जा रही है। अगर वहाँ उपयोग, अशुभोपयोग न हो, तो पाप का कोई अर्थ ही नहीं रहता। आखिर, जड़ तो पापकर्म नहीं करता और न पाप-पुण्य का बन्ध ही करता है। चेतना ही पाप का बन्ध करता है और पुण्य का भी बन्ध करता है।

एक इन्सान लाठी से किसी का सिर फोड़ देता है, तो सिर फोड़ने का पाप लाठी को नहीं लगता है, इन्सान को ही लगता है। क्यों, सिर तो लाठी ने ही फोड़ा है, फिर लाठी को पाप क्यों नहीं लगता है? लाठी पाप की भागिनी नहीं होती और न उसके पीछे जो हाथ हैं, वही पाप के भागी होते हैं। पाप तो हाथ वाले को—इन्सान को ही लगता है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ चेतना है, वहाँ पाप भी,

पुण्य भी और धर्म भी होगा। और जहाँ चेतना नहीं, वहाँ तीनों ही चीजें नहीं हैं। क्योंकि हिंसा और असत्य के पीछे भी वृत्तियाँ होती हैं और इस प्रकार दुनिया-भर में जो पाप हो रहे हैं, उनके पीछे वृत्तियाँ अवश्य हैं और उन्हीं वृत्तियों और भावनाओं को हम चेतना कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा का स्वभाव जो उपयोग है, उसमें जब हिंसा, असत्य, चोरी और व्यभिचार आदि की गंदगी मिल जाती है, और इनके मिलने से वह उपयोग गंदा हो जाता है और वह उस गंदगी को लेकर चलता है, तब वह अशुभोपयोग कहलाता है।

दूसरा शुभोपयोग है। शुभोपयोग, अशुभोपयोग से निराला है और उसमें पापों की गंदगी नहीं है। किन्तु वह भी आत्मा की स्वाभाविक परिणति नहीं है। मतलब यह है कि मनुष्य अशुभ से हटता है अर्थात् बुरी वृत्तियों और बुरे संकल्पों से दूर हो जाता है और शुभ संकल्प ले लेता है, किन्तु उनमें रंग डाले बिना नहीं रहता। जीवन में पवित्र संकल्प और ऊँचे सिद्धान्त गूँजने लगे, वह दुखियों की सेवा और सहायता के लिए भी दौड़ा और उनके आँसू पोंछने को भी चला, जीवन में जहाँ कहीं रहा, नम्र होकर रहा। उसने साधना की और गृहस्थ या साधु के रूप में अपने जीवन को ऊँचा उठाया। इस प्रकार जीवन में पापों की गंदगी नहीं मिला रहा है, फिर भी रंग डालना

नहीं भूल रहा है। कभी नीला और कभी पीला रंग डालता है। तसवीर बनाता जाता है और रंग-रोगन मिलाता जाता है, और वह इतना सुन्दर मालूम होता है कि हर तरफ चकाचौंध हो जाती है, फिर भी पानी में पानी का अपना रूप तो वह नहीं कहा जा सकता।

गंदी नाली के पानी में जो गंदगी थी, वह इस पानी में नहीं है। अतएव गंदे और दुर्गन्ध वाले पानी की अपेक्षा, इस पानी की स्थिति ऊँची है। यानी एक आदमी गंदी मोरी का पानी लेकर मकान को पोतने लगा और दूसरा स्वच्छ पानी में रंग डाल कर पोतने लगा, तो दोनों में भेद जरूर है, किन्तु फिर भी दोनों ही जगह पानी का निज रूप नहीं है।

तो, पुण्य के साथ जो चेतना और उपयोग-धारा है, वह अशुभ की अपेक्षा अच्छी है और ऊँची है; फिर भी कहना चाहिए कि वह पानी का असली रूप नहीं है—आत्मा का सहज स्वरूप नहीं है। वहाँ भी अन्तःचेतना अपने असली रूप में व्यक्त नहीं हुई है।

जहाँ तक जैन-दर्शन का ताल्लुक है, उसने संसार को पूरी तरह माप लिया है। उसने बतला दिया है कि संसार में ऊँची-से-ऊँची जगह कौन-सी है और नीची-से-नीची जगह कौन-सी है?

हमें इस तथ्य को विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि

पाप और पुण्य दोनों की भूमिका संसार है और जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, उसमें कोई समझौता नहीं हो सकता। आखिरकार, दोनों ही संसार के किनारे हैं। मान लीजिए, किसी को समचतुरस्र संस्थान मिला और किसी को कोई दूसरा संस्थान मिला, तो इससे क्या हो गया ? शरीर की रचना में ही तो फर्क पड़ा, और क्या फर्क पड़ गया ?

एक आदमी सुख भोग रहा है और एक दुःख भोग रहा है। दोनों को अपनी-अपनी करनी का फल मिल रहा है और दोनों ही संसार की भूमिकाएँ हैं, कोई मोक्ष की भूमिका नहीं है।

जहाँ संसार का प्रश्न है, वहाँ अशुभ और शुभ–दो धाराएँ हैं, किन्तु जहाँ अध्यात्म का प्रश्न है, वहाँ तीसरी धारा को हम शुद्धोपयोग कहते हैं। वह पाप और पुण्य से अलग ऊँची और पावन धारा है। आत्मा जब तक पाप और पुण्य की धारा में बह रही है, तब तक संसार की ओर बह रही है और जब वह शरीर की ओर से हट कर अपने घर की ओर आती है, तब उसका घर की ओर जो कदम है, वह पाप या पुण्य का कदम नहीं, अपने घर का अर्थात् मोक्ष का कदम है।

* * *

जीवित श्रद्धा

मानव-जीवन में सबसे बड़ी बात श्रद्धा की है। जब श्रद्धा की ज्योति मन्द पड़ जाती है या जलती-जलती बुझ जाती है, तो अंधकार-ही-अंधकार फैल जाता है। जो श्रद्धाशील हैं, वे निरन्तर बढ़े चले जाते हैं और जो श्रद्धा को तोड़ देता है, उसे बगल में बैठे हुए देवता का भी पता नहीं चलता। यह बात जैनधर्म के लिए नहीं, धर्म-मात्र के लिए है। किसी भी धर्म को यदि जीवित रखना है, तो उसके प्रति श्रद्धा की भेंट आवश्यक है। श्रद्धा और प्रेम के अभाव में कोई भी धर्म जिन्दा नहीं रह सकता। अतएव जो अपने धर्म को जीवित रखना चाहता है उसे अपने धर्म के प्रति नम्रतापूर्वक श्रद्धा की भेंट समर्पित करनी ही चाहिए।

आपको भरत चक्रवर्ती का स्मरण है ? वे भगवान् ऋषभ-देव के ज्येष्ठ पुत्र थे। जब वह सिंहासन पर आसीन थे, उसी समय उन्हें समाचार मिला कि उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है! ज्योतिषी पत्रा लेकर बैठ गये और ग्रह-नक्षत्रों की गणना कर उनका फलादेश बतलाते हुए कहने लगे—'नव-जात शिशु महान् सौभाग्यशाली है।'

और भरत जी अपने पुत्र का भविष्य सुन रहे हैं कि दूसरी तरफ से समाचार मिलता है—'आपकी आयुधशाला में चक्र-रत्न प्रकट हुआ है। उसकी पूजा करने पधारिए।'

तीसरी ओर से संवाद मिलता है—'भगवान् आदिनाथ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है। समवसरण लग रहा है।'

पुत्र-प्राप्ति का अपार हर्ष हृदय में समा नहीं रहा है कि उसी समय चक्रवर्ती होने का संदेश देने वाला चक्र-रत्न प्रकट होता है। भला इस हर्ष की कहीं सीमा है? कोई प्यादा हो और उसे जमादार बना दिये जाने की खबर मिले, तो कितना प्रसन्न होता है वह? आज हजार कमाया और सूचना मिल जाय कि कल दस हजार और परसों लाख कमाओगे, तो हृदय कैसा बंदर की तरह नाचने लगता है! फिर भरत जी को तो पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ है और चक्रवर्तित्व भी मिला है। दुनियादारी के लिहाज से इससे बढ़कर और क्या बड़ा लाभ और सुख हो सकता है किसी को! तीर्थंकर का पद तो आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च है, किन्तु संसार के बड़े-से-बड़े वैभव के नाते तो चक्रवर्ती का पद ही सर्वोत्कृष्ट है।

इस तरह तीन तरफ़ से आनन्द-प्रद सूचनाएँ पाकर भरत को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, आज यह कौन कह सकता है? परन्तु भरत सोचते हैं, यह संसार है और यहाँ पिता-पुत्र के नाते तो बनते रहते ही हैं। यह संसार के नाते अनादि काल से चले आ रहे हैं-बनते और बिगड़ते रहे हैं। इस नाते मैं भगवान् का दर्शन करने में ढील नहीं कर सकता, उस आत्मिक आनन्द को नहीं छोड़ सकता।

और वह चक्ररत्न! पूजा न की जाएगी तो रुष्ट होकर

चला जायगा ? मगर क्या कर सकता हूँ ? प्रभु की उपासना का परित्याग तो इसके लिए भी नहीं कर सकता! वह रहे तो रहे और जाय तो जाय! भाग्य में है, तो जायगा कहाँ ? न होता तो आता ही कैसे ? आया है. तो दास बन कर आया है, गुलाम होकर आया है। और धर्म के प्रताप से ही तो आया है। जिस धर्म के प्रताप से चक्र-रत्न आया है, चक्ररत्न के लिए क्या उसी धर्म का परित्याग करदूँ ? नहीं, चक्ररत्न के लिए भरत रुकने वाला नहीं !

और भरत, पुत्र और चक्ररत्न दोनों को छोड़कर, भगवान के दर्शन के लिए पहुँचे। भगवान् के परमानन्द-दायक प्रवचन-पीयूष का पान करने के लिए पहुँचे। उन्होंने चक्रवर्त्ती पद की अपेक्षा भगवान् की वाणी के श्रोता के पद को महत्त्वपूर्ण समझा।

आपके विचार में कौन-सा पद महत्त्वपूर्ण है, यह आप जानें। मगर भरत ने तो चक्रवर्ती पद को ठुकराकर श्रोता बनना ही श्रेयस्कर समझा। और वह त्वरा के साथ उस ओर चले—तो; इसलिए नहीं कि जल्दी पहुँचेंगे, तो बैठने को सिंहासन मिलेगा ? देर से जाएँगे, तो जमीन पर बैठना पड़ेगा ? नहीं, वहाँ ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। भगवान् के दरबार में राजा-रंक में कोई भेद नहीं था। भगवान् का दरबार ही तो दुनिया-भर में ऐसी एक जगह थी, जहाँ मनुष्य-मात्र को समान दर्जा प्राप्त था। जहाँ मानव सब प्रकार

के कल्पित भेद-भावों को भूल कर असली मानव के रूप में स्थान पाता था ! आप तो यहाँ दरियाँ बिछा लेते हैं और कोई श्रीमन्त आ जाएँ, तो गलीचा बिछा देने से भी नहीं चूकते। पर भगवान् के दरबार में दुनिया के वैभव को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। जहाँ चक्रवर्ती सम्राट अपरिग्रही भिक्षु के चरणों में मस्तक झुकाता है, वहीं परिग्रह के प्रतिनिधि की पूजा की जाती है ! ऐसा बे-मेल और परस्पर विरोधी व्यवहार बुद्धिमान् नहीं करते।

इस विशाल भूमण्डल में सर्वत्र अधर्म और असत्य की पूजा हो रही है और परिग्रह पुज रहा है। कम-से-कम धर्म-स्थान तो इस मिथ्याचार से अछूते बने रहें। धर्म के लिए एक जगह तो टिकने को बाकी रहने दीजिए।

भरत स्वयं भी कहाँ चाहते थे कि वे अन्य मनुष्यों से अपने - आपको अलग समझें। मनुष्य-मात्र से अलहदा करने वाला तो चक्रवर्ती का पद था; परन्तु उसकी उपेक्षा करके वह तो श्रोता बनने चले, उस पद को अंगीकार करने चले, जो भगवान् के दरबार में मौजूद रहने वाले प्रत्येक प्राणी को प्राप्त था।

भरत ने श्रोता-पद के महत्त्व को समझा, तो चक्रवर्ती के पद और पुत्ररत्न से भी बढ़कर उसे माना। वास्तव में वह जानते थे—श्रोता बनकर आत्मा अनन्त-अनन्त गुण प्राप्त कर सकता है। अतएव वे चक्रवर्त्ती-पद की परवाह न कर

आत्म-राज्य की खूबियों को प्राप्त करने के लिए गए।

भरत के हृदय मे श्रद्धा थी। श्रद्धा न होती, तो वे क्यों जाते? जिसे इतनी अटूट श्रद्धा प्राप्त है, वह भक्त भगवान् क्यों न बन जायगा? वास्तव में भरत, भक्तों के लिए आदर्श है। उसकी इस अटूट लगन को हृदय में बसाकर कोई भी मनुष्य, मनुष्य से भक्त और भक्त से भगवान बन सकता है।

*　　　*

आत्म-हत्या

मनुष्य में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। वह अपनी रक्षा भी कर सकता है और अपनी हत्या भी कर सकता है। साधारण बोल-चाल की भाषा में जिसे आत्म-रक्षा और आत्म-हत्या कहते हैं, वह तो शरीर की रक्षा और हत्या है। वास्तव में जो आत्मा की हत्या है, वह इतनी साधारण चीज बन गई है कि उसकी ओर लोगों का ध्यान ही नहीं जाता। शरीर की हत्या को जो महत्त्व दिया जाता है, उसका शतांश भी आत्म-हत्या को नहीं दिया जाता। यही कारण है कि लोग पल-पल पर आत्म-हत्या करते रहते हैं और उसमें कोई बुराई नहीं समझते। यह कितने परिताप का विषय है! इसी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि आज के लोग कितने बहिर्मुख हो गए हैं? जिसके कारण शरीर का महत्त्व है, उसे कोई महत्त्व ही नहीं देते और

शरीर को ही महत्त्व देते हैं।

इसी प्रकार शरीर की रक्षा को महत्त्व दिया जाता है, परन्तु आत्मा की रक्षा की ओर विरले ही ध्यान देते हैं। अधिकांश लोग यही नहीं जानते कि आत्मा की रक्षा किस प्रकार हो सकती है? बढ़िया वस्त्र धारण करने से, दुनिया-भर की सम्पदा इकट्ठी कर लेने से अथवा छत्तीस प्रकार का भोजन कर लेने से आत्मा की रक्षा होती है? नहीं, आत्मा की रक्षा का यह उपाय नहीं है।

आपको क्रोध आता है और आप बेभान होजाते हैं। तब आप न अपने प्रति और न दूसरे के प्रति विवेक-युक्त व्यवहार करते हैं। आपका मन अपावन हो जाता है और आपका मुख, जिस मुख से भगवान् महावीर की वाणी बही थी, गालियों का वमन करने लगता है। इस प्रकार जब क्रोध आता है और आग के शोले उठते हैं और जब एटम बम से ज्यादा व्यथा-जनक बम निकलते हैं, तब आत्मा की रक्षा होती है या आत्मा की हत्या होती है? उस समय आपका कदम आत्म-रक्षा की ओर होता है या आत्म-हत्या की ओर?

इसी तरह जब आपके दिमाग पर धन का, बल का, परिवार का अथवा इज्जत का नशा छा जाता है, जब अहंकार की आग मन में प्रज्वलित हो उठती है, तो जरा-सा भी अपमान बर्दाश्त नहीं होता है और उस स्थिति में

आप मरने तथा मारने को भी तैयार हो जाते हैं। जब नाक का सवाल आ जाता है, तो परिवार का सम्बन्ध भी धूल में मिल जाता है। महाभारत किस लिए हुआ था ? इस नाक ने ही तो अगणित योद्धाओं के सिर कटवाये थे ? जब मन में अभिमान की वृत्ति जागृत हो, तो साधक अपने मन से प्रश्न करे कि वह आत्म की हत्या कर रहा है या उसकी रक्षा कर रहा है ?

सेठ जी कहलाते हैं। लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति है। सोने के महल खड़े हैं। फिर भी दूसरे बनवाये जा रहे हैं। और इच्छा है कि दुनिया की सारी जगह मेरे महल खड़े हों। दूसरे के पास सर्दी से बचने की जगह है या नहीं, वे भूख से बिलबिला रहे हैं, हाहाकार मच रहा है और भूख-रूपी पिशाची अपने नौनिहालों को दो-दो रुपयों में बिकवा रही है। परन्तु इस ओर सेठजी का ध्यान ही नहीं है। वे भरे जा रहे हैं अपनी तिजोरियाँ। ठीक है, सेठजी जब परलोक की यात्रा करो, तो उन्हें साथ लेते जाना। आज तक तो किसी के साथ धन-सम्पदा गई नहीं है, किन्तु आपके साथ जरूर चली जायगी। धन की बदौलत आपको बड़ी दीर्घ दृष्टि प्राप्त हो गई है। आपने अपने जीवन में आत्मा की रक्षा की है या आत्मा की हत्या की है ? मैं समझता हूँ—जिसके अंतःकरण में तिरने की भावना उत्पन्न हुई है, जिसने अपनी वासनाओं को कम किया है, जिसने अपनी आवश्यकताओं की उपेक्षा

करके भी दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति की है, दूसरों के हित के लिए अपनी बुद्धि, शक्ति और समय को अर्पण किया है, उसने अपनी आत्म-रक्षा की है। और जो लक्ष्मी की पूजा करता रहा है, धन का गुलाम बना रहा है, अपनी वासनाओं का दास रहा है, जिसने अपने जीवन को हीन भावों में गुजारा है, उसने आत्मा की रक्षा नहीं की है। उसने आत्म-हत्या की है; क्योंकि उसने अपने धर्म की हत्या की है।

आप गम्भीर-भाव से विचार कीजिए कि जो मनुष्य नरकगति और तिर्यञ्च में जाने के कार्य कर रहा है, मनुष्यता से हाथ धोने के काम कर रहा है और चिन्तामणि को लुटा रहा है, जो छल-कपट, ठगी और प्रपंचों पर चल रहा है, जो एक-एक पैसे के लिए अपने जीवन को और देश की इज्जत को बेचने के लिए तैयार है, वह अपनी आत्म-रक्षा कर रहा है या आत्म-हत्या कर रहा है ?

इस आत्मा ने कितनी बार नरक-लोक की यात्रा की है ? और वहाँ कैसी-कैसी दुस्सह यातनाएँ भुगती हैं ? अनन्त-अनन्त बार यह नरक में गई और सागरोपमों तक रही और अकथनीय यातनाएँ भोगी। कितनी बार कीड़ा-मकोड़ा बनी है ? कितनी बार मक्खी-मच्छर के रूप में जन्म ग्रहण कर चुकी है ? पक्षी बन कर कितनी बार आकाश में उड़ चुकी है ? जब कभी ऐसा हुआ, तो उसका

कारण आत्मा की अवज्ञा करना ही था—आत्मा की हत्या करने से ही वह भयानक स्थितियाँ प्राप्त हुई थीं। आत्म-देवता का जब हम अपमान करते हैं, तो ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। जब हम क्रोध, अभिमान, छल-कपट और लोभ-लालच करते हैं, तो आत्म-देवता का अपमान होता है। आत्म-देवता की अवज्ञा करना ही आत्म-हत्या है।

* * *

अर्पण-भावना

जब साधक कहता है कि मैं मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ, तो इसका अर्थ यह होता है कि मैं सिर की भेंट देता हूँ। और जब सिर की भेंट दे दी, तो शेष क्या रह गया? फिर तो सर्वस्व ही समर्पित कर दिया गया। अपने गहरे मित्र के प्रति कहा जाता है—'मैं तुम्हारे लिए अपना सिर देने को तैयार हूँ।' इसका अर्थ यही तो होता है कि मैं अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार हूँ।

मनुष्य के पास जो प्रतिष्ठा, वैभव और इज्जत है, वह सिर ही है और सिर है तो सभी-कुछ है।

जब साधक कहता है कि—मैं मस्तक से वन्दना करता हूँ,' तो उसका अर्थ यह होता है कि मैं सिर अर्पण करता हूँ। मगर सिर को अर्पण करने का मतलब क्या है?

मतलब यह है कि सोचने-विचारने की क्रिया मस्तक के अन्दर ही होती है, तो मैं अपने विचार आपके अधीन करता हूँ। अर्थात् आपके जो विचार होंगे, वाणी होगी, वही विचार और वही वाणी मेरी भी होगी। जो आपकी भावनाएँ होंगी, वही मेरी भावनाएँ होंगी। आपके और मेरे विचार और वचन में कोई अन्तर नहीं होगा—कोई द्वैत नहीं होगा।

इस प्रकार अपने विचार, वचन, चिन्तन और मनन में अनुरूपता लाना, गुरु के विचार और वचन आदि के साथ उन्हें जोड़ देना ही उन्हें मस्तक झुका कर वन्दन-नमस्कार करने का अभिप्राय है।

सिर तो हड्डियों का ढेर है। उसमें रहे हुए विचारों का ही महत्त्व है। उनको अर्पित कर देना ही महत्त्वपूर्ण अर्पण है। सिर का आलंकारिक अर्थ विचार और भावना ही है। लोग कहते हैं—'अमुक का सिर फिर गया है।' यहाँ भी सिर का अर्थ विचार ही होता है। विचार उलट-पलट जाते हैं, मस्तक तो ज्यों-का-ज्यों बना रहता है।

तो, सिर देने का अर्थ विचारों और भावनाओं को अनुरूप बनाना है। सिर के अन्दर यदि भावनाओं की चमक नहीं है, तो सिर का कोई मूल्य नहीं है। हजारों वर्षों से वन्दन हो रहा है, किन्तु जहाँ भावनाओं का अर्पण नहीं, वहाँ वन्दन का कोई वास्तविक मूल्य नहीं। वन्दन तो भाव-

नाओं द्वारा ही होना चाहिए। जहाँ वन्द्य और वन्दक में विचार की एकता है, भावना की अनुरूपता है, वही भाव-वन्दन है। यह नहीं है, तो वह द्रव्य-वन्दनमात्र है, हड्डियों के ढांचों को झुकाना-भर है।

सिर झुक रहा है और 'दयावालों' की ध्वनि गूंज रही है, किन्तु धर्म का उपदेश ठुकराया जा रहा है और धर्म की आज्ञाओं का पालन नहीं हो रहा है। वे हवा में ही उड़ाई जा रही हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन का कल्याण और विकास नहीं हो पाता है। अतएव आवश्यक यही है कि जीवन में भावनाओं का प्रकाश हो और प्रत्येक क्रिया में भावना की ज्योति जगमगाती हो।

साधु अपने गुरु को दस-बीस वर्षों तक वन्दन करता है, सिर झुकाता है और जब कोई महत्त्वपूर्ण बात आ जाती है, आज्ञा का पालन करने का विशेष अवसर आता है, तो चेला किधर हो जाता है और गुरुजी किधर हो जाते हैं। यह सब क्या है ?

और आप गृहस्थ लोग भी क्या करते हैं ? जब गुरु देश और काल की दृष्टि से जीवन-विकास का कोई महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हैं, तो आप अपनी रूढ़ियों और परम्पराओं के अधीन रहकर, उसे ठुकरा देते हैं, उसका तिरस्कार कर देते हैं। जहां गुरु की सूचनाओं का तिरस्कार होता है, अवज्ञा होती है और गुरु के संदेश पैरों से कुचले जाते हैं, वहाँ

सिर को उनके चरणों में रख देने पर भी क्या लाभ हो सकता है ? यह तो केवल यांत्रिक क्रिया है। मशीन की तरह शरीर से चेष्टा करना है। असली वन्दन तो गुरु की भावना में अपनी भावनाओं को मिला देना ही है।

* * *

बाह्य और आन्तर

जब तक चरित्र-बल उत्पन्न नहीं होगा और आन्तरिक जीवन में उल्लास और भावना की जागृति नहीं होगी, तब तक कोई भी नियम जीवन में गति नहीं दे सकता। वह अन्तःस्फूर्ति जो पैदा होनी चाहिए, नहीं हो सकेगी और उस व्रत या प्रतिज्ञा में जो प्रकाश और चमक आनी चाहिए, नहीं आ सकेगी।

प्रायः देखते हैं कि नियम तो ले लिया है, व्रत भी अंगीकार कर लिया है, प्रतिज्ञा भी ग्रहण कर ली है, और सब-कुछ हो गया है। किन्तु, यह सब-कुछ होने पर भी ऐसा मालूम होता है कि कुछ भी नहीं हुआ। इसका अर्थ यह है कि हम चलते हुए तो दिखाई देते हैं, किन्तु जब अपनी गति को नापना चाहते हैं, तो एक इंच-भर भी गति बढ़ती हुई दिखाई नहीं देती।

साधु भी चलता है और गृहस्थ भी चलता है। और निरन्तर पचास-साठ वर्षों तक चलना जारी रहता है; किन्तु जब इतने लम्बे काल की गति को नापते हैं और विचारों

की दृष्टि से ठीक तरह समझना चाहते हैं, तो ऐसा मालूम नहीं होता है कि हम कुछ चले भी हैं। जीवन में कोई विकास और प्रगति हुई नहीं दीखती है।

आखिर, इसका मूल कारण क्या है ? हमें इस प्रश्न पर गम्भीर-भाव से विचार करना चाहिए।

बात यह है कि एक होता है बाह्य आचार और दूसरा होता है आन्तरिक आचार। जैन-धर्म ने जब इस प्रकार आचार की व्याख्या की, तो मानव के अन्तर्जीवन और बाह्य-जीवन को ध्यान में रखकर की। मनुष्य का बाह्य जीवन आप सब के सामने है। अतः उसे अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्तर्जीवन मानव का निगूढ़तम भाग है, जिसकी जानकारी साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्जीवन अपने इस दृश्य पिण्ड की आड़ में अदृश्य हुआ, छुपा हुआ है और वही हजारों भावों की सृष्टि बनाता है और बिगाड़ता है। सृष्टि और प्रलय का उसका यह व्यापार बाहर दिखलाई नहीं देता।

हाँ, तो इस आन्तरिक जगत् में जब तक साधना की भावना नहीं पनपती और ग्रहण किए हुए व्रत या नियम के के लिए ठीक तरह चरित्र का बल उत्पन्न नहीं होता, तो बाहर के व्रतों और नियमों का क्या मूल्य है? बाहर के व्रत और नियम तो आन्तरिक आचार की रक्षा के लिए हैं, अन्दर की रक्षा के लिए चहारदीवारी है।

अपने-आप में जो दीवारें खड़ी हैं, वे मिट्टी और पत्थर के रूप में खड़ी हैं। यदि उनके अन्दर कुछ भी नहीं है, रिक्तता है, कोई व्यक्ति नहीं है, केवल दीवारें हैं, तो उनका अपना क्या मूल्य है? दीवारों का मूल्य तभी है, जब वहाँ सम्पत्ति बिखरी पड़ी हो और आदमियों की चलह-पहल हो। उनकी रक्षा के लिए ही तो दीवारें खड़ी की जाती हैं और दरवाजों पर ताले लगाये जाते हैं? यही उन दीवारों की सार्थकता है।

तो, जो बात आप यहाँ समझ जाते हैं, वही जीवन के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए। अन्दर में अहिंसा और सत्य के रत्न बिखरे हुए होने चाहिएँ। जितनी जीवन की साधनाएँ हैं, उनमें एक-से-एक बहुमूल्य गुण होने चाहिएँ। उनकी रक्षा के लिए ही हमें बाहर के क्रियाकाण्ड की दीवारें खड़ी करनी हैं। जीवन में यदि सत्त्व है, सत्य है और अन्दर में चरित्र-बल है, आध्यात्मिक-बल, आध्यात्मिक-ऐश्वर्य और आध्यात्मिक-साम्राज्य है, तो उनकी कुछ भाव-भंगियाँ, ठीक-ठीक रूप में, हमारे आन्तरिक जीवन की रक्षा करेंगी।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्दर का घर खाली है, अन्दर में कुछ भी नहीं है, किन्तु बाहर बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी हैं। सिवाय वहम के घर में कुछ भी नहीं होता।

इसी प्रकार अन्दर में यदि चरित्र-बल हो और बाहर

में व्रत, नियम उपवास आदि हैं, तो वे बहुमूल्य होंगे। मैं उनकी कीमत कम नहीं करना चाहता। वास्तव में वे बहुमूल्य हैं। किन्तु वे काम तभी देंगे, जब आन्तरिक चरित्र-बल प्रबल होगा।

* * *

स्वाध्याय

भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा एवं पवित्र माना गया है। हमारे पूर्वजों ने जो ज्ञान-राशि एकत्रित की है और जिसे देखकर आज समस्त संसार चमत्कृत है, वह स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हुई है। भारत जब तक स्वाध्याय की ओर से उदासीन न हुआ, तब तक वह ज्ञान के दिव्य प्रकाश से जगमगाता रहा!

पूर्वकाल में जब भारतीय विद्यार्थी गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर विदा होता था, तो उस समय आशीर्वाद के रूप में आचार्य की ओर से यही महावाक्य मिलता था—

'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'

—वत्स! भूलकर भी स्वाध्याय करने में प्रमाद न करना।

कितना सुन्दर उपदेश है? स्वाध्याय के द्वारा ही हित और अहित का ज्ञान होता है, पाप और पुण्य का पता चलता है, कर्तव्य, अकर्तव्य का भान होता है। स्वाध्याय हमारे अन्धकार-पूर्ण जीवन पथ के लिए दीपक के समान

है। जिस प्रकार दीपक के द्वारा हमें मार्ग के अच्छे और बुरेपन का पता चलता है और तदनुसार खराब, ऊबड़-खाबड़ मार्ग को छोड़कर अच्छे, साफ-सुथरे पथ पर चलते हैं; ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय के द्वारा हम धर्म और अधर्म का पता लगा लेते हैं और जरा विवेक का आश्रय लें, तो अधर्म को छोड़कर धर्म के पथ पर चल कर जीवन-यात्रा को प्रशस्त बना सकते हैं।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उपमा दी है। जिस प्रकार नन्दन वन में प्रत्येक दिशा की ओर भव्य दृश्य, मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, वहां जाकर मनुष्य सब प्रकार के दुःख-क्लेश भूल जाता है: उसी प्रकार स्वाध्याय-रूप नन्दन वन में भी एक-से-एक सुन्दर एवं शिक्षा-प्रद दृश्य देखने को मिलते हैं और मन दुनियावी झंझटों से मुक्त होकर एक अलौकिक आनन्द-लोक में विचरण करने लगता है। स्वाध्याय करते समय कभी महापुरुषों के जीवन की पवित्र एवं दिव्य झांकी आंखों के सामने आती है, कभी स्वर्ग और नरक के दृश्य धर्म तथा अधर्म का परिणाम दिखलाने लगते हैं। कभी महापुरुषों की अमृत-वाणी की पुनीत धारा बहती हुई मिलती है, कभी तर्क-वितर्क की हवाई उड़ान बुद्धि को बहुत ऊँचे अनन्त विचाराकाश में उठा ले जाती है। और कभी-कभी श्रद्धा, भक्ति और सदाचार के ज्योतिर्मय आदर्श हृदय को गद्‌गद कर देते हैं। शास्त्र-वाचन

हमारे लिए 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' का उच्च आदर्श उपस्थित करता है। जब कभी आपका हृदय बुझा हुआ हो, मुरझाया हुआ हो, तुम्हें चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार घिरा नजर आ रहा हो, कदम-कदम पर विघ्न-बाधाओं के जाल बिछे हुए हों, तो आप किसी उच्चकोटि के पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय कीजिए। आपका हृदय ज्योतिर्मय हो जायगा, चारों ओर प्रकाश बिखरा नजर आएगा, विघ्न-बाधाएँ चूर-चूर होती मालूम होंगी, एक महान् दिव्य आलौकिक स्फूर्ति, तुम्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करती हुई प्राप्त होगी।

योग-दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास स्वाध्याय के आदर्श पुजारी हैं। आप परमात्म-ज्योति के दर्शन पाने का साधन एकमात्र स्वाध्याय ही बतलाते हैं :—

"स्वाध्यायाद् योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योगसम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते।

योग ०, १/ २८ व्यास-भाष्य

स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्याय-मूलक योग का अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाता है।

भगवान् महावीर तो स्वाध्याय के कट्टर पक्षपाती हैं। बारह प्रकार की तप-साधना में स्वाध्याय का स्थान भी

रक्खा गया है और स्वाध्याय तप को बहुत ऊँचा अन्तरंग तप माना गया है। अपने अन्तिम प्रवचन-स्वरूप वर्णन किये गए उत्तराध्ययन सूत्र में आप बतलाते हैं कि 'सज्झा-एणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।' 'स्वाध्याय करने से ज्ञाना-वरण कर्म का क्षय होता है, ज्ञान का अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है।'

आप देखते हैं—जीवन में जो भी दुःख हैं, अज्ञान-जन्य ही हैं। जितने भी पाप, जितनी भी बुराइयाँ हो रही हैं, सबके मूल में अज्ञान ही छुपा बैठा है। अस्तु, यदि अज्ञान का नाश हो जाय, तो फिर किस चीज की कमी रह जाती है? मनुष्य ने जहाँ ज्ञान, विवेक, विचार की शक्ति का प्रकाश पाया, वहाँ उसने संसार का समस्त ऐश्वर्य भर पाया।

'जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण॥

—संथारपइन्ना

'अज्ञानी साधक करोड़ों वर्षों की कठोर तप-साधना से जितने कर्म नष्ट करता है; ज्ञानी साधक मन, वचन और शरीर को वश में करता हुआ उतने ही कर्म एक श्वास-भर में क्षय कर डालता है।'

स्वाध्याय वाणी की तपस्या है। इसके द्वारा हृदय का मल धुल-धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय अन्तः-प्रेक्षण है। इसी के अभ्यास से बहुत से पुरुष आत्मोन्नति करते हुए महात्मा, परमात्मा हो गए हैं। अन्तर का ज्ञान-

दीपक विना स्वाध्याय के प्रज्वलित हो ही नहीं सकता—

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो, नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ।

विना चाभ्यासयोगेन, ज्ञानदीपस्तथा नहि ॥

—योगशिखोपनिषद्

'जैसे लकड़ी में रही हुई अग्नि मन्थन के बिना प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान-दीपक, जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता ।'

* * *

धर्म और पंथ

धर्म एक चीज है और पंथ दूसरी चीज है। धर्म का रूप अलग और पंथ का रूप अलग होता है। जैनधर्म धर्म है या पंथ है? धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में 'रिलीजन' (Religion) शब्द का प्रयोग होता है और उससे भी इस विषय में एक प्रकार का गड़बड़झाला पैदा हो गया है।

हजारों परम्पराएँ चलीं और आगे बढ़ीं। उनमें से कुछ मिट गईं और कुछ मौजूद हैं। हजारों नवीन परम्पराएँ जन्म ले रही हैं और वे भी मिटेंगी और फिर नवीन जन्म लेंगी। यह मत, पंथ या प्रवाह हैं। तो, क्या जैनधर्म इन मान्यताओं और पंथों पर ही रहता है या इनसे ऊपर उसका स्थान है? मैं सोचता हूँ कि धर्म, पंथ से ऊपर

है और वह पंथ में सीमित नहीं है। वह सम्प्रदाय के रूप में है, किन्तु सम्प्रदाय में ही बंद नहीं है। वह सम्प्रदाय से भी ऊपर है।

इस रूप में, नई मान्यताएँ जब-जब चलीं, उनमें धर्म अवश्य था, किन्तु जब वह मान्यताएँ सड़-गल गईं तो जैन-धर्म का चक्र ऊपर था, और ऊपर ही रहा। परम्पराएँ सड़-गल कर खत्म हो गईं, धर्म अपने रूप में बना रहा।

इस प्रकार धर्म के दो रूप हमारे सामने आते हैं—एक धर्म और दूसरा सम्प्रदाय, पन्थ, मान्यता या परम्परा। धर्म का रूप सर्वोपरि है और सम्प्रदाय, पन्थ या परम्परा में जब तक धर्म का अंश रहता है और विवेक-विचार बना रहता है, तब तक वह परम्परा या मान्यता जनता का कल्याण करती रहती है, समाज में जागृति उत्पन्न करती रहती है और उसे आगे बढ़ाती रहती है। इसी रूप में अगर कोई मान्यता या परम्परा चल रही है, तो उसमें धर्म का अंश है और उसमें धर्म का अंश होने के कारण ही हम उसे धर्म के रूप में स्वीकार भी करते हैं। किन्तु, जब उस परम्परा में से धर्म का अंश निकल जाता है, वह परम्परा निर्जीव क्रियाकाण्ड-मात्र रह जाती है, तब वह धर्म नहीं रहती। ऐसी परम्परा और मान्यता को भंग कर देना हमारा आदर्श है। हम हजारों वर्षों से यही करते आए हैं। धर्म-हीन जड़ परम्पराओं को खत्म करते आए हैं और

नवीन प्रणालियों को जन्म देते आए हैं।

हमारे नाखूनों के दो विभाग हैं। नाखून का जो भाग उँगलियों से सटा हुआ है, वह जिंदा नाखून है। उस जिन्दा नाखून को काटेंगे, तो दर्द खड़ा हो जायगा। आप अहंकार-वश कदाचित् उसे काट डालेंगे, तो वह आपको व्यथा उपजाएगा और आपका महत्त्वपूर्ण अंग शरीर से अलग हो जायगा। और यदि नाखून के निर्जीव भाग को, जो उँगली से आगे बढ़ कर आगे का रास्ता ले रहा है, नहीं काटेंगे और यह समझ कर कि यह भी तो हमारे ही शरीर का अंग है, इसे काटें, तो कैसे काटें, यों ही बना रहने देंगे, तो वह आपको हानि ही पहुँचाएगा। जहाँ कहीं लगेगा, लहू-लुहान कर देगा। उसमें मैल भरेगा और वह मैल भोजन के साथ पेट में जायगा और बीमारी उत्पन्न करेगा।

इसका अर्थ क्या निकला ? नाखून काटा जाय या नहीं ? उत्तर होगा—काटना भी चाहिए और नहीं भी काटना चाहिए। जो नाखून ज़िंदा है, उसे नहीं काटना चाहिए। वह उंगली की रक्षा करता है, उंगली को बलिष्ठ बनाता है और इस रूप में वह भी उपयोगी अंग है। इतने पर भी यदि कोई उसे काटने पर ही उतारू हो जाता है, तो उसे कष्ट भुगतना पड़ेगा। हाँ, मुर्दा नाखून जो बढ़ गया है, उसे न काटना भी पीड़ा का कारण है। अतएव उसे काट

फेंकने में ही कल्याण है।

यही बात धार्मिक परम्पराओं और सामाजिक रीति-रिवाजों के विषय में भी है। खेद यही है कि नाखून को लेकर बड़े संघर्ष हो रहे हैं। एक ओर से कहा जा रहा है कि पुराने जमाने से चले आते रीति-रिवाज हमारे काम के नहीं हैं, इन्हें जड़ से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। जो लोग नई रोशनी के हैं, वे जब आप में गड़बड़ देखते हैं, तो कहते हैं कि "इस धर्म को ही बर्बाद कर दो। धर्म ने प्रजा के सिर फुड़वाये हैं, हमें आपस में लड़ाया है और स्वार्थ-साधन करना सिखलाया है। हम धर्म से ऊब गये हैं, बेचैन हो गये हैं। धर्म से कल्याण नहीं होने वाला है।"

मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों ने पंथों, सम्प्रदायों और रुढ़ियों को ही धर्म समझ लिया है। उन्होंने धर्मात्मा कहलाने वाले कुछ व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन भले ही किया हो, इसीलिए वे जिन्दा नाखून को भी काट फेंकने के लिए तैयार हो गये हैं। इससे समाज का भला नहीं होगा। फिर भी अगर काट कर फेंक दिया गया, तो असह्य दर्द होगा और भलाई नहीं होगी।

दूसरी ओर पुराने विचारों के लोग हैं। उनका आग्रह हो रहा है कि जो नाखून मुर्दा हो गया है, बढ़ा हुआ है, उसमें जीवन नहीं रह गया है और जब-तब खून बहाया करता है, उसमें मैल भरता है। फिर भी उसको मत काटो,

यह तो हमारा धर्म है, सम्प्रदाय है और परम्परा है।"

इस तरह दोनों ओर अति हो रही है और इस कारण सभी धर्म और समाज, पंथ, मत और मान्यताएँ भी बेचैन हैं।

किन्तु, जिस रूप में हम सोच रहे हैं, उस रूप में जैनधर्म ने नहीं सोचा है। उसने तो यही कहा है कि धार्मिक परम्परा दो रूप में है—जिंदा और मुर्दा। जो सम्प्रदाय, मान्यता या रूढ़ि अच्छी है, जिससे समाज का कल्याण हो रहा है, उसे नहीं काटना है, उसे नष्ट और बर्बाद नहीं करना है।

आखिर, उसे नष्ट करके भी क्या करोगे? उसकी जगह कोई नई परम्परा घड़नी पड़ेगी। फिर उसी को क्यों नहीं जारी रहने देते? जब उससे समाज का कल्याण हो रहा है, तो फिर उसे काट कर फेंकने की क्या आवश्यकता है?

हाँ, जो मान्यताएँ या परम्पराएँ सड़ गई हैं और हमारे जीवन को कोई उल्लास नहीं दे रही हैं और जो निर्जीव नाखून की तरह बढ़ गई हैं, उनको काट कर फैंक देना हमारा हक है। ऐसा करने का भगवान् महावीर आदि महापुरुषों ने हमें अधिकार दिया है। उन्होंने हमें आदेश दिया है कि गलत और हानिकारक परम्पराओं को काट कर नई परम्पराएँ बनाते रहो, जिससे जागृति बनी रहे।

अभिप्राय यह है कि जो सम्प्रदाय जिन्दा नाखून है,

जिसमें जीवन है, उसे मत काटो; किन्तु जिसमें से धर्म निकल गया है, जो परम्परा धर्म से आगे निकल गई है और समाज को दुःख दे रही है और बर्बाद कर रही है, उसको काट फेंकना आवश्यक है। मैं विचार कर रहा हूँ कि जैनधर्म की ओर से यह ऐसा फैसला है, जो हमारे जीवन को रोकता भी नहीं है और गलत ढंग से काट फेंकने की आज्ञा भी नहीं देता है। वह हर जगह विवेक और विचार को उत्तेजना देता है और कभी किसी एकान्तवाद को प्रश्रय नहीं देता।

सम्प्रदाय, पंथ और धर्म का सम्बन्ध घनिष्ठ है और हमें अपनी विवेक-बुद्धि से उनका विश्लेषण करना चाहिए। विश्लेषण किया जायगा, तो पता चलेगा कि धर्म का रूप और है और पंथ का मतलब कुछ और है। किन्तु लोगों ने पंथ को ही धर्म समझ लिया है और इसी कारण आज बड़ी गड़बड़ फैली हुई है।

पंथ में धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म में पंथ नहीं है। किसी परम्परा में धर्म हो सकता है, किन्तु वह परम्परा, धर्म पर सवार नहीं हो सकती। यही कारण है कि आज के युग तक जैन-परम्परा में भी समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते आये हैं। धर्म ध्रुव सत्य है, वह त्रिकाल अबाधित है और उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता; किन्तु परम्पराओं में, मान्यताओं में परिवर्तन होते आये हैं और

होते रहेंगे। परम्पराएँ तीर्थङ्करों के युग में भी बदली हैं, आज भी बदल रही हैं और भविष्य में भी बदलती रहेंगी। इस बदलती हुई दुनिया के साथ समय-समय पर सब-कुछ बदलता है !

* * *

विवेक ही धर्म है

जैनधर्म विवेक को प्रधान और सर्वोपरि स्वीकार करता है। संसार में जो भी धन्धे चल रहे हैं और जिन्हें आप आर्य-धन्धा मानते हैं, उनमें भी विवेक की आवश्यकता है। मगर हम धर्म की आत्मा अर्थात् विवेक की ओर ध्यान नहीं देते और उसके बाह्य रूप को पकड़ कर उलझते हैं। अमुक ढंग का तिलक लगाना धर्म है। एक कनफड़ा साधु मिला, तो उसने कहा—कान फड़वाए तो धर्म है और नहीं फड़वाए, तो धर्म नहीं है। मतलब यह है कि हमारे यहाँ आम तौर पर यह धारणाएँ फैली हुई हैं कि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय, तो ही धर्म है, नहीं तो धर्म नहीं। मगर जैनधर्म इन सबसे ऊपर उठ कर कहता है कि विवेक में ही धर्म है। आचाराङ्ग में कहा है—

'विवेगे धम्ममाहिए।'

जैनधर्म में कहने-सुनने की हिंसा से ताल्लुक नहीं है, बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी ताल्लुक नहीं है,

किन्तु विवेक के साथ सीधा ताल्लुक है। अहिंसा का नाटक तो खेले, किन्तु उसमें अगर विवेक नहीं है, तो वह अहिंसा नहीं है और यदि उसमें अविवेक है, तो वह हिंसा बन जायगा, अधर्म बन जायगा। किसी ने साधुत्व ले लिया या श्रावकत्व ले लिया और विवेक नहीं रक्खा, तो क्या वह धर्म हो गया? जैनधर्म के अनुसार तो जितने अंशों में विवेक है, उतने ही अंशों में धर्म है और जिस अंश में अविवेक है, उस अंश में अधर्म है। जैनधर्म छापा या तिलक वगैरह में धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ तो एक ही तराजू और एक ही काँटा है और वह निराला काँटा है विवेक के मार्ग का।

एक बार गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया! उन्होंने अपने ही लिए नहीं, किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा—"भगवन्! जीवन में कहीं पाप न लगे, ऐसी राह बताइए; क्योंकि जीवन पापमय है। खाते-पीते हैं, तब भी पाप लगता है, उठते-बैठते हैं, तब भी पाप पकड़ लेता है, सोते-जागते हैं, तब भी पाप दबा लेता है, बोलते-चालते हैं, तब भी पाप जकड़ लेता है। क्या ऐसा भी कोई मार्ग है, जिससे पाप-कर्म का बंध न हो?"

प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने यह नहीं कहा कि चलने से पाप लगता है, तो खड़े हो जाओ। खड़े होने से पाप लगता है, तो बैठ जाओ, बैठने पर भी पाप नहीं छोड़ता, तो लेट

जाओ। खाने से पाप है, तो संथारा करलो। बोलने से पाप लगता है, तो मौन धारण करलो। मुर्दे की तरह चुप होकर पड़ रहो।

जैनधर्म के समाधान करने की यह पद्धति नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते कि चलने से पाप लगता है, तो खड़े हो जाओ। इस पर भी पाप लगे, तो बैठ जाओ और लेट जाओ, पसर जाओ, इस तरह जीवन को समाप्त कर दो। भगवान् के धर्म में सच्चा साधक वह नहीं है, इधर तो 'वोसिरे' कहे और उधर एक जहर की पुड़िया खा ले। बस, राम नाम सत्य! न जीवन रहे और न जीवन की हरकत रहे। जैन-धर्म तो यह कहता है कि मनुष्य! तेरी जिन्दगी अगर ५० वर्ष के लिए है, तो ५० वर्ष और १०० वर्ष के लिए है, तो १०० वर्ष और हजार वर्ष के लिए है, तो हजार वर्ष पूरे कर; किन्तु एक बात का ध्यान रख कि—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

—दशवैकालिक सूत्र, ४/८

उपर्युक्त गाथा के द्वारा भगवान् महावीर का संसार के समस्त साधकों को जीवन-सन्देश है कि प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो, विवेक से करो। चलना है, तो चलने में यतना रक्खो, विवेक रक्खो। खड़े होओ, तो बैठने की बात नहीं है। खड़े रह सकते हो, पर विवेक के साथ। बैठना

हो, तो भी विवेक के साथ। सोना है, तो सोओ भी विवेक के साथ। खाना है या बोलना है, तो भी यही शर्त है। विवेक के साथ खाओ, विवेक के साथ बोलो। फिर पाप-कर्म नहीं बँधेंगे। पाप-कर्म अविवेक में है।

* * * *

क्रोध और प्रेम

यह तो आप जानते ही हैं कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेम-पूर्वक चलना है। मनुष्य संसार में जहाँ कहीं भी रहना चाहता है, अकेला नहीं रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुड़ता है। परिवार में दस-बीस आदमी रह रहे हैं, तो वे प्रेम से ही जुड़े हुए हैं। घृणा का काम तो जोड़ना नहीं है! इसी तरह बिरादरी में हजारों आदमी जुड़े रहते हैं। उन्हें जोड़ने वाला भी प्रेम ही है। परिवार में पारिवारिक प्रेम, समाज में सामाजिक प्रेम और राष्ट्र में राष्ट्रीय प्रेम ही आपस में मनुष्य-जाति को जोड़े हुए है। जिसके हृदय में प्रेम का वास है, वह अपने हजारों और लाखों प्रेमी बनाता चलता है।

हाँ, मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नहीं हो सकता। यह दोनों परस्पर विरोधी हैं। एक

म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जहाँ क्रोध होगा, वहाँ प्रेम नहीं हो सकता और जहाँ प्रेम है, वहाँ क्रोध का गुजर नहीं। ईश्वर की भी शक्ति नहीं कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते। राम और रावण दोनों एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। एक बैठेगा, तो दूसरे को हटना पड़ेगा। राम की पूजा करनी है, तो रावण को सिंहासन से उतारना पड़ेगा और रावण को पूजना है, तो राम को उतारना पड़ेगा।

जब इन्सान के मन में मलीनता आती है, तो चमकती हुई ज्ञान की लौ धुंधली पड़ जाती है। और जब मन में काम और क्रोध की लहर उठती है, तो मन का दर्पण मैला पड़ जाता है। आपको अनुभव होगा कि दर्पण में फूँक मार देते हैं, तो वह धुँधला हो जाता है। और उसमें चेहरा देखते हैं, तो साफ नजर नहीं आता। दर्पण अपने स्वरूप में तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह की भाप ने असर किया, तो वह मैला बन गया। उसी प्रकार मन का दर्पण साफ है और ठीक हालत में है और वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है, तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर वह ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। जिनके मन का दर्पण ठीक नहीं है, वे मित्र को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं

कर पाते, पति को पति के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में और पिता-पुत्र, पिता-पुत्र के रूप में नहीं देख पाते। उनके मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब जब इतने धुँधले होते हैं, तो वे अपने कर्त्तव्य को भी साफ नहीं देख पाते और न अपनी भूलों को ही साफ देख पाते हैं।

क्रोध में पागलपन ही नहीं, पागलपन का आवेश भी होता है। जिसे दुनिया पागल समझती है, वह पागल उतना भयानक नहीं होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्तर में क्रोध की आग भभकते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा में मनुष्य जो न कर बैठे, वही गनीमत है! वह आत्मघात कर लेता है, पर का घात कर देता है और ऐसे-ऐसे काम कर गुजरता है कि जिनके लिए उसे जिंदगी-भर पछताना पड़ता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

तो हमें यह निर्णय कर लेना है कि हमें क्रोध को अपने मन में स्थान नहीं देना है। जब क्रोध आने को हो, तो उसको बाहर के दरवाजे से धक्का देकर निकाल देना है। हमें क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि "यदि क्रोध करना है, तो उसको निकालने के लिए क्रोध करो और क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।"

इस रूप में जब क्रोध मन से निकल जायगा, तो जीवन में स्नेह की धाराएँ प्रवाहित होने लगेंगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जायगा और बुद्धि निर्मल हो जायगी।

जब हम शान्त-भाव में रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हम में सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। उसी समय हम ठीक विचार कर सकते हैं और दूसरों को भी ठीक बात समझा सकते हैं।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ़ गया, तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया, तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नहीं होगा और कदाचित् वह जीवन में बड़ा भयंकर साबित होगा। वह निर्णय कभी शान्तिदायक नहीं हो सकता। अगर हम अपने जीवन को शान्तिपूर्ण बनाना चाहते हैं, तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर में आग लगती है, तो पानी का प्रबन्ध किया जाता है उसे बुझाने के लिए। इसी प्रकार जब क्रोध आए, तो क्षमा के जल से उसे बुझा दो और अभिमान से लड़ने के लिए नम्रता को अड़ा दो। जब तक विरोधी चीजें नहीं आएँगी, तब तक कुछ नहीं होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से

नहीं जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना चाहोगे, तो नहीं कट सकेगा। उसे काटने के लिए ठंडे लोहे का इस्तेमाल करना पड़ेगा। गरम लोहा गरम हो गया है, किन्तु उसने अपने-आपको बचाने की कड़क कम कर दी है। यह ठंडा होता, तो अधिक देर तक टिक सकता था, मगर गरम होकर तो उसने अपनी शक्ति गँवा दी है। वह ठंडे लोहे से कटना शुरू हो जाता है। इस रूप में मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं काट सकते। उसको ठंडे लोहे से काटना होगा। भगवान् महावीर ने कहा है—

'कोहो पीइं पणासेइ।'

—दशवैकालिक-सूत्र, ८/३८

क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है। इसका मतलब-यह हुआ कि जो चीजें प्रेम के सहारे टिकने वाली हैं, क्रोध उन सब का नाश कर डालता है। इस रूप में विचार कीजिए, तो मालूम होगा कि परिवार, समाज और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध आदि स्नेह के आधार पर ही टिका हुआ है। वहाँ अगर क्रोध उत्पन्न हो गया है, तो वहाँ कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नहीं है। यह सचाई तो अनुभगम्य ही है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती हैं, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का सम्बन्ध भी टूट जाता है और परिवार में रहता हुआ भी इन्सान अकेला

रहता है। देश में करोड़ों के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही रहता है।

* * *

नक़द धर्म

धर्म का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है। वह जीवन की मूल-भूत और ठोस समस्याओं के साथ क्रूरतापूर्वक उपहास करता है, वह मर जाने के बाद स्वर्ग की बात तो कहता है, किन्तु इस संसार को स्वर्ग बनाने की बात नहीं कहता है। मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचने पर ६४) मन का मोती मिल जाना तो बतलाता है, मगर जिन्दा रहने के लिए दो सेर अन्न के दाने पाने की राह नहीं दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा पीटता है, किन्तु जिस मनुष्य के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए अपने जीवन की कला नहीं सिखलाता। इस प्रकार हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है। दुनिया को ऐसे धर्म की आवश्यकता भी नहीं है।

आखिरकार, धर्म यह तो बतलावे कि मनुष्य को करना क्या है? धर्म क्या प्रस्तुत जीवन की राह नहीं बतला सकता? मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है क्या?

उधार का भी अपने-आप में मूल्य है अवश्य, मगर जिस दुकान में उधार ही उधार चलता हो और नकद की बात ही न हो, वह दुकान क्या अपने-आपको टिकाए रख सकेगी? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप में केवल उधार ही उधार की बात करता है और कहता है उपवास करोगे, तो स्वर्ग मिल जाएगा। झूठ, कलह आदि नहीं करोगे, तो मरने के बाद अमुक राज्य-वैभव-रूप फल पा जाओगे। जो यह नहीं बतलाता है कि आप या हम श्रावक और साधु बनकर जो काम कर रहे हैं, उनका यहाँ क्या अच्छा फल मिलेगा; जो यह नहीं बता सकता कि इस कर्त्तव्य का पालन करोगे, तो स्वर्ग यहीं इस जीवन में उतर आएगा—तुम्हारा परिवार, समाज और राष्ट्र ही स्वर्ग बन जायगा, उस धर्म का साधारण जनता क्या बनाये और वह धर्म किस मर्ज की दवा है?

सचाई यह है कि स्वर्ग में वही जाएँगे, जिन्होंने यहीं स्वर्ग बना लिया है जीवन को। जो यहाँ स्वर्ग नहीं बना पाये हैं और यहाँ घृणा, भुखमरी और हाहाकार के नरक का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें यदि किसी धर्म के द्वारा स्वर्ग मिला भी, तो वह रो-रो कर मिलेगा, हँसते-हँसते नहीं मिलने का। उधार धर्म जीवन में शान्ति नहीं देता। जीवन में शान्ति-सुख की लहर आती है नकद धर्म से। भगवान् महावीर का धर्म नकद धर्म है। वह कहता

है कि यदि क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़ोगे, तो पहले यहीं शान्ति मिलेगी इस जीवन में। आत्म-दमन करने वाला पहले यहाँ सुखी होता है बाद में परलोक में—

'अप्पादंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य।'

—उत्तराध्ययन, १/१५

* * *

मानवता की पहली सीढ़ी

जीवन की क्षुद्र परिधि में घिरा रहने वाला मनुष्य, शाश्वत सुख और अखण्ड शान्ति का मार्ग नहीं पा सकता। सुख और शान्ति का मार्ग मानवोचित विशाल भावनाओं से निर्मित होता है। हमारे यहाँ कहा गया है—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र, यः पश्यति स पश्यति।'

अर्थात्—जो वस्तु, जो बात और जो व्यवहार आप अपने लिए चाहते हैं, वही वस्तु आप दूसरों को भी दीजिए, वही बात आप दूसरों से भी कहिए और वही व्यवहार आप दूसरों के साथ भी कीजिये। यही ज्ञानी का प्रधान लक्षण है।

आप तो संसार के सभी प्रकार के सुखों का भोग कर रहे हैं और आपका दुखी पड़ौसी उसमें से कुछ भी नहीं पा रहा है। आपकी हवेली में रेडियो-संगीत की सुमधुर ध्वनि गूँज रही है, और आपके पड़ौस की झोंपड़ियों में हाहाकार

और चीत्कार मचा है, मगर आप अपने सुख के संगीत में इस कदर डूबे हैं कि अपने दुःखी पड़ौसी के चीत्कार की ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं दे रहे, उसे सुनना भी पसंद नहीं कर रहे, सान्त्वना के दो शब्द कहना तो दूर-किनार उल्टे आप अपने रौब से उसे बन्द करना चाहें, तो मैं पूछता हूँ आपकी क्या यही इन्सानियत है ? आपकी इन्सानियत का क्या यही तकाजा है ? वास्तव में, जैन-धर्म अहिंसा के रूप में मनुष्यता के इसी सन्देश को लेकर आपके सम्मुख उपस्थित है। और संसार के अन्य धर्म भी अपने प्रेम के सन्देश में आपसे मनुष्यता की यही बात कह रहे हैं। संसार के सभी महापुरुषों ने अब तक इस एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और वही नाना शास्त्रों के रूप में जनता के सामने है। क्या वेद, क्या उपनिषद्, क्या पुराण और क्या आगम और क्या दूसरे धर्म-शास्त्र, सब का निचोड़ इस संबंध में एक ही है। सभी शास्त्रों में से एक ही ध्वनि सुनाई देती है—

'श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।'

सब धर्मों को सुनो और उनके सार को अपने मन में रक्खो। तुमने धर्म को सुना और सुन कर रह गए और जीवन में ग्रहण नहीं कर सके, तो उस सुनने का कोई मूल्य नहीं है। धर्म को सुनकर सब बातें स्मरण नहीं रख सकते,

तो न सही। उसका जो सार है, निचोड़ है और मन में रख लेने योग्य जो अंश है, उसे तो अपने मन में रख ही लो; अवसर मिलने पर उसे अपने व्यवहार में उतारो। धर्मों का वह सार या निचोड़ क्या है? वह यही कि जो बातें और जो व्यवहार तुम अपने लिए अनुकूल नहीं समझते, वही व्यवहार दूसरों के प्रति भी मत करो।

दूसरे लोग तुम्हारे प्रति जब प्रतिकूल व्यवहार करते हैं, तो तुम्हें पीड़ा होती है। कोई तुम्हें पद-दलित करता है, तो तुम वेदना का अनुभव करते हो। तो वैसा व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी मत करो। दूसरों के व्यवहार से जैसे तुम्हें पीड़ा हुई, वैसे ही तुम्हारे व्यवहार से दूसरों को भी पीड़ा होना स्वाभाविक है।

एक मनुष्य के प्रति दूसरे मनुष्य की यह जो नीति है, उसे चाहे अहिंसा कह लीजिए, दया कह लीजिए या इन्सानियत कह लीजिए, यही आत्मौपम्यता मानवता की पहली सीढ़ी है।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार है, उसके उस व्यवहार में कड़वापन है या मिठास है, यही हिंसा और अहिंसा की कसौटी है। यदि व्यवहार में कटुता है और हिंसा का तांडव नृत्य है, तो वहाँ मानवता के पनपने के लिए कोई भूमिका नहीं है। जहाँ राक्षसी भावनाओं का वातावरण है, जहाँ एक दूसरे को चूसना, लूटना,

दबोचना और पद-दलित करना ही केवल विद्यमान है, वहाँ अहिंसा कहाँ रहेगी ? और मानवता के दर्शन कैसे हो सकेंगे वहाँ ?

हे मनुष्य ! जैसे मुझे अपना सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी अपना सुख प्रिय है। तू सुख चाहता है तो दूसरों को सुख दे। सुख देगा, तो सुख पाएगा और दुःख देगा तो दुःख पाएगा, यह जीवन का अटल नियम है—

'सुख दीधां सुख होत है, दुख दीधां दुख होय।'

यह अनुभव-सिद्ध बात है। इसके लिए शास्त्रों को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। मानव-शास्त्र अन्तर्मन के द्वारा ही देखा, समझा और परखा जाता है।

* * *

सत्य ही भगवान् है

हमारे जीवन में सत्य का महत्त्व महान् है। लेकिन साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा में से यदि हम सत्य का प्रकाश ग्रहण करना चाहें, तो सत्य का वह महान् प्रकाश हमें नहीं मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमें अपने अन्तरतर की गहराई में दूर तक झाँकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैनधर्म ने एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है। विचार कीजिए, उस क्रान्ति का

क्या रूप है ?

हमारे जो दूसरे साथी हैं, दर्शन हैं और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमें ईश्वर को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बना कर चलती हैं। उनके अनुसार यदि ईश्वर को स्थान नहीं रहा, तो साधना को भी कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु जैनधर्म ने इस प्रकार ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना है।

तो फिर जैनधर्म की साधना का केन्द्र क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दों के अनुसार यह है—

तं सच्चं खु भगवं।

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र

मनुष्य ईश्वर के रूप में एक अलौकिक व्यक्ति के चारों ओर घूम रहा था। उसके ध्यान में ईश्वर एक विराट व्यक्ति था और उसकी पूजा एवं उपासना में वह अपनी सारी शक्ति और समय व्यय कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी गलत और कभी सही रास्ते पर भटका और लाखों धक्के खाता फिरा। जिस किसी भी विधि से उसको प्रसन्न करना उसके जीवन का प्रधान और एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार हजारों गलतियाँ साधना के नाम पर मानव-समाज में पैदा हो गई थीं। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर

आगे आए और उन्होंने एक ही बात, बहुत थोड़े से शब्दों में कहकर समस्त भ्रान्तियाँ दूर कर दीं। भगवान् कौन है? महावीर स्वामी ने बतलाया कि वह भगवान् तो सत्य ही है। सत्य ही आपका भगवान् है। अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रख कर ही करो। अर्थात् सत्य होगा तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना संभव नहीं है।

हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण में उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोड़कर केवल ईश्वर की पूजा में लगा और उसी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील हुआ, तो ठोकरें खाता फिरा और भटकता रहा।

आज हजारों मन्दिर हैं और वहाँ ईश्वर के रूप में कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है; किन्तु वहाँ भगवान् सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। चाहे कोई जैन हो या अजैन हो, मूर्ति-पूजा करने वाला हो, या न हो, अधिकांशतः वह अपनी शक्ति का उपयोग एक-मात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है। उसमें वह न न्याय को देखता है, न अन्याय का विचार करता है। हम देखते हैं और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर में जाकर ईश्वर को अशर्फी चढ़ाएँगे और हजारों-लाखों के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे; किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे, तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो

जायगी ? मन्दिर के बाहर, द्वार पर, गरीब लोग रोटी-कपड़े के लिए सिर झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामद करते हैं, धक्कामुक्की होती है; परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ और उन दरिद्रों पर घृणा एवं तिरस्कार बरसाता हुआ अपने घर का रास्ता पकड़ता है। इस प्रकार जो पिता है, उसके लिए तो लाखों के मुकुट अर्पण किए जाएँगे, किन्तु उसके लाखों बेटे-पोतों के लिए, जो रोटी-रोटी के लिए दर-दर भटकते फिरते हैं, कुछ भी नहीं किया जाता। उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नहीं दिखलाई जाती।

जन-साधारण के जीवन में यह विसंगति आखिर क्यों और कहाँ से आई है ? आप विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि इस विसंगति के मूल में सत्य को स्थान न देना ही है। क्या जैन और क्या अजैन, सभी आज बाहर की चीजों में उलझ गये हैं। परिणाम-स्वरूप धूमधाम मचती है, क्रियाकाण्ड का आडम्बर किया जाता है, अमुक को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को और कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने में हजारों-लाखों पूरे हो जाते हैं। लेकिन आपका कोई साधर्मी भाई है, वह जीवन के कर्त्तव्य के साथ जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोड़ी-सी सहायता भी

मिल जाय, तो वह जीवन के मार्ग पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्माण कर सकता है; किन्तु उसके लिए आप कुछ नहीं करते !

तात्पर्य यह है कि जब तक सत्य को जीवन में नहीं उतारा जायगा, तब तक सही समाधान नहीं मिल सकेगा, जीवन में व्यापी हुई अनेक असंगतियाँ दूर नहीं की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्रायः नहीं किया जा सकेगा।

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते फिरते थे और देवी-देवताओं के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं करते थे। भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान् है ! भगवान का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य को खोजने की प्रेरणा थी। सत्य अपने अन्दर ही छिपा है। उसे कहीं बाहर ढूँढ़ने के बजाय भीतर ही खोजना है। जब तक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा और अन्दर के सत्य की झाँकी नहीं होगी और भीतर का देवता तुम्हारे भीतर प्रकाश नहीं फैलाएगा; तब तक तुम तीन काल और तीन लोक में कभी भी; कहीं पर भी ईश्वर के दर्शन नहीं पा सकोगे।

* * *

मशालों के डंडे

एक साधारण-सी साइकिल में जब गति-क्रिया होती

है, तो वह सैंकड़ों मील की यात्रा करती चली जाती है। उसके ऊपर आदमी बैठ जाता है और वजन भी रहता है। वह सब को ले कर चलती है। लेकिन यह होता तभी है, जब उसके भीतर ट्यूब में हवा भरी होती है। अन्दर में हवा की शक्ति न हो, तो वह गाड़ी चलती नहीं, खड़ी हो जाती है। यदि उसे चलाएँगे, तो वह आप को ले कर नहीं चलेगी, आप को घसीट कर चलानी पड़ेगी। जब पंचर हो जाता है उसमें, तो हवा समाप्त हो जाती है, और फिर उसे स्वयं घसीट-कर चाहे कितनी ही दूर क्यों न ले जाएँ, किन्तु उस में स्वयं चलने की शक्ति नहीं है।

हमारे जीवन की गाड़ी का भी यही हाल है। यदि उसमें अन्दर की साधना है, चरित्र का बल है, तो जीवन ठीक तौर से आगे चलेगा, अग्रसर होगा और हम अपने लक्ष्य पर पहुँच जाएँगे। यदि अन्दर की शक्ति क्षीण हो जाय, अन्दर की चरित्रबल-रूप हवा निकल जाय, या हो ही नहीं, तो साधुपन और श्रावकपन को घसीटते ले जाना पड़ता है। वह साधक, अपने जीवन में आगे नहीं बढ़ सकेगा। उसकी साधना भार बन जायगी और उसे चाहे कितने ही वर्षों तक ढोना पड़े, वह भारस्वरूप ही बनी रहेगी। वह तुम्हें नहीं ढोएगी, तुम्हें ही उसे ढोना पड़ेगा।

तो, आध्यात्मिक जीवन की जो परम्परा है, साधना

है, वह उस आत्म-देवता के प्रति वफादार होनी चाहिए, जो कि हमारा मूल जीवन है। सारांश यह है कि जब तक हम अन्दर में जाग्रत रहते हैं, तब तक गति करते हैं, अन्यथा नहीं।

प्रत्येक धर्म के प्रवर्तक कुछ रोशनी लेकर आगे बढ़े हैं। उस रोशनी के विषय में, बंगाल के अध्यात्मवादी सन्त बाउल कहते हैं—"प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक आचार और विचार की जलती मशाल लेकर आगे बढ़ता है और अंधकार में भटकती हुई प्रजा, जिसको राह नहीं मिल रही है, उसके पीछे हो लेती है और अपना मार्ग तय करती है। जब उसका जीवन समाप्त हुआ, तो, वह मशाल अपने शिष्य के हाथों थमा जाता है और शिष्य उसे लेकर आगे बढ़ता है। मगर दुर्भाग्य से क्या हुआ? ज्यों-ज्यों वह मशाल आगे के दुर्बल हाथों में पहुँची, तो रोशनी धुंधली पड़ती चली गई और आखिर शिष्य के हाथों में दी हुई मशाल बुझ गई और क्रियाकाण्ड के खाली डंडे ही शिष्यों के हाथों में रह गये हैं। उनमें रोशनी नहीं है। इससे वे स्वयं भी अन्धकार में ठोकरें खा रहे हैं और उनके पीछे की भीड़ भी ठोकरें खा रही है।"

उस मार्मिक सन्त की कही बात हुई जब हम पढ़ते हैं या सुनते हैं, तो हमारे मन में भी यही विचार आता है कि वास्तव में समाज की स्थिति ऐसी ही बन गई है। आज

अहिंसा और सत्य की मशालें हाथों में अवश्य हैं, पर वे बुझी हुई मशालें हैं—खाली प्रकाश-विहीन डंडे मात्र हैं। यही कारण है कि हमारे जीवन में कोई प्रगति नहीं हो रही है। आगे आने वाली प्रजा को कोई रोशनी नहीं मिल रही है और सब टक्करें खा रहे हैं अंधेरे में।

* * *

जीवन का सर्वांगीण विकास

एक आदमी का सिर बहुत बड़ा हो जाय और शरीर का नीचे का भाग काँटे के समान पतला बना रहे, तो वह रूप, सुरूप नहीं कहलायगा। इसी प्रकार किसी के पैर भारी हों और हाथ तिनके की तरह पतले रह गये, तो वह भी रूप, सुरूप नहीं कहला सकता। शरीर के प्रत्येक अवयव का समान विकास होना ही सच्चा विकास है और उसी विकास में शरीर का वास्तविक सौन्दर्य है। जिस मात्रा में हाथों और पैरों का विकास हो, उसी मात्रा में मस्तिष्क का भी विकास होना चाहिए। एक अंग स्थूल और दूसरा अंग कृश हो, एक सबल और दूसरा निर्बल हो, एक अंग लम्बा और दूसरा छोटा हो, तो वह कुरूपता का ही द्योतक होगा। जिसे यह कुरूपता नहीं चाहिए और सुन्दरता चाहिए, उसे शरीर के सर्वांगीण विकास की ओर ही ध्यान देना चाहिए।

शरीर के सम्बन्ध में जो बात है, वही जीवन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। मस्तिष्क को हम विचारमय जीवन का रूप दे सकते हैं और हाथ-पैरों को आचरण-जन्य जीवन कह सकते हैं। जीवन के दोनों पक्ष समान गति से ऊपर उठने चाहिएँ। विचार की ऊँच्चता के साथ आचार में भी उच्चता आनी चाहिए। विचार आकाश में विचरण करे और आचार पाताल लोक में भटकता रहे, तो यह जीवन की घोर विरूपता है। इससे जीवन में सुन्दरता नहीं आ सकती। इसे जीवन का वास्तविक विकास नहीं कह सकते।

एक व्यक्ति के जीवन का धार्मिक अंग विकसित हो गया है। वह सामायिक करता है, पौषध करता है और दूसरा क्रियाकाण्ड भी करता है, किन्तु उसके जीवन के दूसरे अङ्ग विकसित नहीं हुए हैं। उसका पारिवारिक रहन-सहन पिछड़ा हुआ है। दुकान में, दफ्तर में या कारखाने में उसका जीवन कुछ और ही ढंग का है, तो नहीं कहा जा सकता कि उसका जीवन विकसित हो गया है। वह जिस सत्य की बात करता है, उसे अपने जीवन में नहीं उतारता। एक तरफ उसकी प्रवृत्ति भगतजी की है और यदि दूसरी ओर प्रवृत्ति शैतान की है, तो यह कैसा धार्मिक जीवन?

कोई मनुष्य परिवार से बाहर के लोगों से मिलता है,

तो दबाव से अथवा अन्य किसी कारण से शिष्ट व्यवहार करता है, मधुर वाणी का प्रयोग करता है और प्रेम से पेश आता है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों देवता हो! किन्तु जब उसी को परिवार में देखते हैं, तो जल्लाद के रूप में दिखाई देता है। अपनी स्त्री पर और अपने बच्चों पर अकारण क्रोध करता है और उन्हें त्रास देता है! ऐसे मनुष्य को आप क्या कहेंगे?

दूसरा मनुष्य अपने परिवार के लोगों के प्रति मोहवशात् स्नेह और प्रेम रखता है, किन्तु बाहर दूसरों के साथ अभद्र एवं कटु व्यवहार करता है। ऐसे मनुष्य के जीवन के विषय में भी आप क्या सोचते हैं?

पहले आदमी के विषय में यही कहा जायगा कि उसने सामाजिक दृष्टि से बाहर में तो विकास किया है, किन्तु पारिवारिक दृष्टि से विकास नहीं किया। इसी कारण वह बाहरी लोगों के प्रति सौजन्य प्रकट करता है, पर पारिवारिक दृष्टि से उसका विकास नहीं हुआ है, वह परिवार में गड़बड़ाया हुआ रहता है। इसी प्रकार की बात दूसरे आदमी के विषय में भी कहनी पड़ेगी। एक के पारिवारिक जीवन का विकास नहीं हुआ है, तो दूसरे का सामाजिक जीवन अविकसित है। दोनों का विकास अधूरा और एकाङ्गी है। वस्तुतः जीवन का विकास सभी दिशाओं में एक साथ होना चाहिए। क्या पारिवारिक, क्या

सामाजिक और क्या धार्मिक, सभी अंग जब पुष्ट होते हैं, तभी जीवन पुष्ट कहला सकता है। ऐसे विकास वाला पुरुष ही महापुरुष कहलाता है और वह जहाँ भी जाता है, अपनी सुगन्ध फैलाता है और जिस गली-कूचे में होकर निकलता है, अपने जीवन की महक छोड़ जाता है।

आज अधिकांश व्यक्तियों का जीवन इस रूप में विकसित नहीं देखा जाता। एक व्यक्ति बौद्धिक क्षेत्र में प्रगतिशील है और शास्त्रों की लम्बी-लम्बी बातें करता है और दर्शनशास्त्र की गूढ़ समस्याओं पर गंभीर चर्चा करता है, दार्शनिक चिन्तन और मनन में गहरा रस लेता है किन्तु दूसरी तरफ देखते हैं कि वह स्थूल शरीर की पूजा करने को भटक रहा है। कभी भैरोंजी के दरबार में पहुँचता है, तो कभी बालाजी के पास भटकता फिरता है! इस प्रकार एक ओर तो उसका जीवन इतना चिन्तन-प्रधान है, जबकि दूसरी ओर वह सर्वथा विचार-हीन की तरह आचरण करता है। वहाँ उसका दार्शनिक चिन्तन न जाने कहाँ चला जाता है? यह सारी असंगति जीवन का सर्वांगीण विकास न होने के कारण ही है।

* *

भाव हिंसा

भाव हिंसा क्या है? जब आपकी आत्मा के अन्दर किसी के प्रति द्वेष जागा, तो हिंसा हो गई। किसी के प्रति

असत्य का संकल्प, चोरी का संकल्प और व्यभिचार करने का भाव आया ; क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाएँ जागीं, जो जीवन को अपवित्र बनाती हैं, तो हिंसा हो गई। इसे भाव-हिंसा कहते हैं। भाव-हिंसा से, सब से पहले हिंसक का ही नाश होता है। आपको क्रोध आया और ज्यों ही क्रोध आया कि मन में आग लग गई और किसी का सर्वनाश करने का विचार किया। बस, यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीड़ा पहुँचाना आपके लिए हर समय शक्य नहीं है। कोई आपसे दुर्बल होगा, तो उसके सामने आप अपनी ताकत का उपयोग कर सकते हैं। अगर वह आपसे ज्यादा शक्तिशाली हुआ, तो आप स्वयं जल कर रह जाएँगे। उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाएँगे। इस तरह बाहर की हिंसा की या नहीं की, मगर खुद तो जले और अन्दर-ही-अन्दर जलते रहे।

कुछ बच्चे एक एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कह कर उसका मजाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ ? अच्छा गन्दा ही सही। और वह अपने हाथ में कीचड़ लेता है और दूसरे बच्चों पर उछालने के लिए उनके पीछे दौड़ता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड़ नहीं उछाल पाता या उछाल भी देता है, तो दूसरों पर कीचड़ उछली या न उछली, मगर उसका हाथ तो कीचड़ से भर ही गया ! अगर कीचड़ उछालने

वाला तेज दौड़ता है और दूसरों पर उछाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड़ से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज हैं और वह कीचड़ उन पर नहीं उछाल पाता, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन-ही-मन जलता है। इस प्रकार दूसरों पर कीचड़ चाहे उछले चाहे न उछले, पर उछालने वाला हर हालत में गन्दा हो ही जाता है।

अविवेकी जीव भी बच्चों के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन में दूसरों के प्रति बुरे भाव, बुरे संकल्प पैदा करता है और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्तःकरण को मलीन बना लेता है और आत्मा के गुणों की हत्या कर लेता है। क्रोध आया तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई, तो सरलता का संहार हो गया और लोभ आया, तो सन्तोष का गला घुट गया। असत्य का संकल्प आया, तो सत्य की जो महक आ रही थी, वह समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा में पनपती है, वह अपने विरोधी सद्गुण को कुचल देती है।

रात को आना हो, तो कैसे आए? दिन को जब तक कुचल न दे, दिन जब तक समाप्त न हो जाय और सूर्य की एक-एक किरण को लुप्त न कर दे, तब तक रात कैसे आए? रात हो गई है, तो समझ लो कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

हमारे जीवन में भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिंसा, असत्य आदि की काली घटाएँ घुड़म-घुमड़ कर आती हैं, तो अहिंसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति जगमगा रही थी, समझ लो, वह नष्ट हो जाती है। वहाँ दिन छिप जाता है।

तो, भावहिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर ही डालती है। रह गई दूसरों की हिंसा, सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है कोई दूसरों की हिंसा न कर सके, किन्तु अपने-आप तो जल ही जाता है।

दियासलाई को देखिए। वह रगड़ खाती है और जल उठती है। स्वयं जल उठने के बाद वह घास-पात आदि को जलाने जाती है। वह खुद तो जल गई है, अब दूसरों को जलाए या न भी जलाए। वह जलाने चली और हवा का झोंका आ गया, तो बुझ जाने कारण दूसरे को नहीं जला सकेगी ; मगर अपने-आप तो बिना जली नहीं रही।

* * *

आकाश में ईंट न फैंको

मनुष्य-शरीर पा जाने पर भी यदि मनुष्यता प्राप्त न की गई, तो मनुष्य शरीर बेकार है, उससे कुछ लाभ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य बन चुके हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में कहते हैं कि 'हम इतने मनुष्य-शरीर धारण कर चुके हैं कि यदि

उनके रक्त को एकत्रित किया जाय, तो असंख्य समुद्र भर जाएँ। मांस को एकत्र किया जाय, तो चांद और सूर्य भी दब जाएँ। हड्डियों को एकत्र किया जाय, तो असंख्य मेरु पर्वत खड़े हो जाएँ।'

आशय यह है कि मनुष्य शरीर इतना दुर्लभ नहीं, जितना कि मनुष्यत्व दुर्लभ है। इसका अर्थ यही है कि हम मनुष्य तो बने, किन्तु मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके विना मनुष्य बनना भी बेकार हो गया। काता-पींजा कपास हो गया।

मनुष्यता पाये विना चाहे कितने ही क्रियाकाण्ड और सामायिक-प्रतिक्रमण, आदि किए जाएँ, सब व्यर्थ हैं। जैनधर्म यही पूछता है कि चाहे तुम किसी धर्म या पंथ को मानने वाले हो, हमें इससे कोई मतलब नहीं मगर तुम्हारे अन्दर मनुष्यता आई है या नहीं ? अगर मनुष्यता की मंजिल तुमने नहीं बनाई है, तो धर्म-कर्म की मंजिल टिकेगी किस पर ? मनुष्यता की मंजिल पहली मंजिल है और धर्म-कर्म की मंजिलें ऊपर की मंजिलें हैं। विना नीचे की मंजिल के ऊपर की मंजिलें टिकेंगी किस आधार पर ? उसके लिए आकाश में तो ईंटें नहीं फैंकी जाएँगी ? अगर पहली मंजिल नहीं है, तो आकाश में फैंकी हुई ईंटें तो रह नहीं सकतीं। भला आकाश में फैंकी हुई ईंटों से महल बना है कहीं आज तक ?

किन्तु, दुर्भाग्य से आज हजारों व्यक्ति आकाश में ईंटें फैंक कर ही अपना महल तैयार करना चाह रहे हैं। नीचे की मंजिल तो बनी ही नहीं है, उससे पहले ही ऊपर छलांग मारने लगते हैं। मनुष्य की पहली मंजिल तो बनी ही नहीं और लगे हैं धर्म-कर्म करने और क्रियाकाण्ड की ईंटों को आकाश में फैंक कर संघ-महल बनाने। वे केवल अपने धर्म के कथित अनुयायियों की गिनती बढ़ाने में लगे हैं और समझते हैं कि हमारे धर्म को मानने वाले इतने लाख और इतने करोड़ आदमी हैं। हमारा धर्म दुनिया में सबसे ज्यादा फैला हुआ है।

पर, क्या कभी अन्दर में गज डाल कर देखा है कि वह कहाँ तक फैला है जीवन में? धर्म ने जीवन में प्रवेश पाया भी है या नहीं? अगर कोई धर्म यह चिल्लाता रहे कि मुझे मानने वाले इतने लाख या करोड़ व्यक्ति हैं, परन्तु उस धर्म को मानने वालों में मनुष्यता ने प्रवेश नहीं किया है, तो समझा जायगा कि वे उस धर्म के असली अनुयायी नहीं हैं। संसार में नकली चीजें बहुत-सी चलती हैं। पशु का हृदय रखने वाले भी मनुष्य की शक्ल में होते हैं। पर, उन्हें सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य का हृदय रखने पर ही मनुष्यता की पहली मंजिल बनकर तैयार होती है। वही जीवन के महल की आधार-शिला है।

विचार और आचार

जीवन की दो पाँखें

जिस प्रकार पक्षी अनन्त आकाश में तभी ऊँचा उड़ सकता है, जबकि उसकी दोनों पाँखें ठीक हों। अगर उसकी एक पाँख बिल्कुल ठीक है और दूसरी निकम्मी या बेकार है, तब उसके लिए अनन्त आकाश में उड़ने और ऊपर चढ़ने की बात तो बहुत दूर की है, वह दो चार गज भी नहीं उड़ सकता। इसी प्रकार अगर मनुष्य की विचार नाम की पाँख तो बिल्कुल ठीक है; मगर आचरण वाली पाँख बिलकुल बेकार हो, तो वह मोक्ष के मन्दिर की दूरी को नहीं नाप सकता। दूरी नापना तो दूर-किनार रहा, वह दो चार कदम भी ठीक तरह नहीं चल सकता। इसी प्रकार आचरण नाम की पाँख अगर ठीक हो और विचार नामक नहीं, तो उसके लिए भी मोक्ष के मन्दिर की दूरी नापना कठिन हो जायगा। साधना के क्षेत्र में मनुष्य को दोनों ही रूपों में ठीक होना जरूरी है। दोनों ही रूपों में सामर्थ्यवान् होना आवश्यक है।

किसी भी व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में चैतन्य जगत् का उद्धार तभी सम्भव है, जब उसमें शुद्ध और सात्त्विक विचारों की चल-लहरी सर्वदा प्रवाहित होती रहे, इसीलिए कहा गया है—"जो अज्ञानी तथा विचार-हीन आत्माएँ हैं, जिनके भीतर सदा अज्ञान का अंधकार घनी-

भूत रहता है, वे संसार में उन्नति की ओर किस प्रकार अग्रसर हो सकती हैं ? जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश को कभी देखा ही नहीं है, वे भले-बुरे की पहचान करना क्या जानें? हित और अहित का भेद वे क्या जानें ? संसार क्या है, स्वर्ग और नरक क्या होता है, उनको क्या पता ? मोक्ष किसे कहते हैं, आत्मा की ज्योति क्या होती है, परमात्मा का प्रकाश कैसा होता है, उन्हें क्या मालूम ! संसार के समस्त बन्धनों को तोड़ कर किसी दूसरे लोक में पहुँच कर आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है, इस भेद को वे क्या समझें ?"

तो, यह तो रही अज्ञानी आत्माओं की बात, मगर संसार में कुछ ऐसी आत्माएँ भी सर्वदा निवास करती हैं, जो ज्ञान के आलोक से तो आलोकित रहती हैं, लेकिन जिनके आचरण में वह आलोक नहीं विराजता। जिनका आचार उन शुद्ध और सात्त्विक विचारों के अनुरूप नहीं होता। जो, केवल विचारों की शुद्धता को ही आत्म-कल्याण का साधन मान लेती हैं। विचार-सम्पन्न मगर आचार-हीन हैं वे आत्माएँ। इन्हीं आत्माओं को सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर आचार्य भद्रबाहु फरमाते हैं—

मोक्ष की ओर उड़ चलने के लिए विचार और आचार नाम की दोनों पाँखों की आवश्यकता है। यदि इनमें से एक है और एक नहीं, तो पृथ्वी पर सीधे पैर नहीं पड़ेंगे।

मोक्ष की ओर जाने की बात तो बहुत दूर की है। इसलिए आवश्यकता दोनों ही पाँखों की है। दो ही पैरों के बल पर आदमी सुचारु रूप में आगे बढ़ता आया है और दो ही पैरों से हमेशा बढ़ेगा भी। विचार तो आवश्यक हैं ही, मगर आचार भी उतना ही आवश्यक है। अन्यथा केवल विचारों से कुछ भी होना-जाना नहीं। यह तो ऐसी बात है, जैसे कोई दरिद्र व्यक्ति रोज यह सोचे कि वह धनवान् बनेगा और धनवान् बनने के लिए अपने विचारों की दुनिया तो अपने चारों ओर बसा ले, मगर धनवान् बनने के लिए अपने उन विचारों को कार्य रूप में परिणत करे ही नहीं, आचरण में उन विचारों को लावे ही नहीं—तो, इस प्रकार तो उसका समूचा जीवन बीत जायगा, मगर वह धनवान् नहीं हो सकेगा, नहीं बनेगा और जीवन-भर गरीब और दरिद्र ही बना रहेगा।

मोक्ष केवल ज्ञान के बलबूते पर ही प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिए क्रिया की भी नितान्त आवश्यकता है। पागल दार्शनिक की भाँति अगर विचारों के जगत् में ही रहे, तो क्या हुआ, कुछ भी तो नहीं। विचारों को आचरण में संजोना भी उतना ही आवश्यक है, जितना विचारों की दुनिया बसाना अथवा ज्ञान संचय करना। जब जीवन को माँजने का प्रश्न आया, तो भाग खड़े हुए, समाज की गन्दगी को साफ करने का मौका आया, तो उस ओर ध्यान

ही नहीं दिया। इस प्रकार केवल विचारों की दुनिया में लिप्त रहने से क्या लाभ ? जीवन के क्षेत्र में, परिवार, समाज, राष्ट्र के क्षेत्र में बिना आचरण के विचारवान् मनुष्य भी उतना ही निकम्मा है, जितना कि आचार-हीन मनुष्य ! जब वह ज्ञानवान् होकर भी स्वयं को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र और समूचे विश्व को प्रगति के पथ का निर्देश नहीं कर सकता, मानव-समाज की सेवा नहीं कर सकता, तो वह पढ़ा-लिखा बेवकूफ नहीं तो और क्या है ?

हाँ, तो ज्ञान संचय करो, तो उसको आचरण में भी लाओ, तभी कल्याण संभव है, अन्यथा नहीं। संसार के कल्याण के लिए और स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए विचारवान् बनो, ज्ञानवान् बनो और अपने संचित ज्ञान को व्यवहार में भी लाओ। अपना आचरण उन शुद्ध और सात्त्विक विचारों के अनुरूप बनाओ। वास्तव में, ज्ञान-हीन मनुष्य एक अन्धे मनुष्य के समान है। वह जीवन में ठोकरें खाता हुआ ही अपने जीवन को बिता देता है और इस प्रकार वह अगर अगणित जीवन भी व्यतीत कर देता है, तब भी वह मोक्ष के परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता, आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता और न संसार को ही कल्याण के मार्ग पर अग्रसर कर सकता है। और न उसकी कुछ सेवा ही कर सकता है। हाँ, तो मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान भी जरूरी है और आचरण भी !

विचारवान् तो बनिये ही, मगर आचरण भी अपना उन विचारों के अनुरूप ही बनाइये।

* * *

अहिंसा के दो पहलू

अहिंसा को समझने के लिए हमें उसके दो पहलू पहले समझ लेने होंगे। एक पहलू वह है, जिसे हम आन्तरिक कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा ऐसी होती है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ, एवं वासना के रूप में हमारे भीतर-ही-भीतर चलती रहती है। हम अपने ही प्रयत्नों से अपनी आत्मा की हत्या करते रहते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नहीं देख सकता है। वह मन-ही-मन उसे देख-देख कर जलता है और जब जलता है, तो अपनी हिंसा करता है। किसी के सद्गुणों को देखता है और किसी की प्रशंसा सुनता है, तो भी वह मन में जलता है और उसके सद्गुणों को स्वीकार नहीं करता है। यही नहीं, वह उसके सद्गुणों से घृणा करता है। ऐसा करने वाला आत्म-हत्या कर रहा है।

कोई आदमी बंदूक या पिस्तौल से गोली मार लेता है, तो समझा जाता है कि आत्म-हत्या हो गई है; परन्तु वह तो शरीर-हत्या होती है। किन्तु मनुष्य जब किसी बुराई को अपने अन्दर डाल लेता है और उसमें गलता रहता है और

सड़ता रहता है, तो यह क्या है ? यह बन्दूक या पिस्तौल मार लेने की अपेक्षा भी बड़ी हिंसा है, जो हमारे सद्गुणों का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर-ही-भीतर होने वाली हिंसा आन्तरिक हिंसा है और यह भाव हिंसा कहलाती है।

हिंसा का दूसरा पहलू बाहरी है। वास्तव में हमारे अन्दर की बुराई ही बाहर की हिंसा करने को तैयार होती है।

इस प्रकार जैनधर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले, दो प्रवाह हैं। एक प्रवाह भीतर-भीतर और दूसरा बाहर बहता रहता है। हिंसा को यदि आग समझ लिया जाय, तो कहना चाहिए कि हिंसा की आग भीतर भी जल रही है और बाहर भी जल रही है।

इस दृष्टिकोण को सामने रख कर विचार करते हैं, तो अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होने लगता है। किन्तु यह जितना व्यापक है, उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना ज्यादा व्यापक बन जाता है, वह उतना ही अटपटा भी हो जाता है और उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र में कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध में विचित्र-विचित्र भ्रान्तियाँ होती देखी जाती हैं। लोग कभी हिंसा को अहिंसा और अहिंसा को हिंसा समझ बैठते हैं। इस प्रकार की भ्रान्ति ने प्राचीन काल में

भी और आधुनिक काल में भी अनेक प्रकार के मत-मतान्तरों को जन्म दिया है। जहाँ सेवा है, अहिंसा है, करुणा और दया है, वहाँ हिंसा समझ ली जाती है और एकान्त पाप समझा जा रहा है! वास्तव में सिद्धान्त में जो अहिंसा है, उसी को मनुष्य के मन ने हिंसा समझ लिया है।

इसके विपरीत, कभी-कभी ऐसा होता है, कि हिंसा होती है, बुराई होती है और गलत काम से किसी को दुःख और कष्ट पहुँचता है और इस प्रकार दूसरे प्राणियों के अन्दर हिंसा की लहर पैदा हो जाती है; मगर दुर्भाग्य से उसे अहिंसा समझ लिया जाता है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा होती है, तो हम उसे अहिंसा समझने लगते हैं। इस तरह मानव-जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही दफा हिंसा के कामों को अहिंसा का और अहिंसा के कामों को हिंसा का रूप दे दिया गया है।

* * *

ज्ञान की कला

जब कोई भी व्यक्ति या समाज अज्ञान में रहता है, तो दुनिया-भर के पाप और दुःख उसके गले पड़ जाते हैं। वह

उनसे छुटकारा पाने की लाख कोशिश क्यों न करे, ज्ञान के अभाव में कृतकार्य नहीं हो सकता। वह एक दुःख को दूर करने जायगा, तो दूसरे अनेक दुःख उससे चिपट जाएँगे और उसकी स्थिति यही होगी—

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं,
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे।'

एक दुःख से लड़ते-लड़ते बेहाल हो रहे हैं और उसे हटा नहीं पाये कि दूसरा दुःख सामने खड़ा हो जाता है। इस प्रकार दुःखों से कैसे लड़ा जायगा? दुखों से लड़ कर अगर सफलता पानी है, दुःखों से पिण्ड छुड़ाना है, तो ज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा। ज्ञान के द्वारा ही दुःखों से सफलता-पूर्वक लड़ा जा सकता है। ज्यों ही ज्ञान का अपूर्व प्रकाश मिला, चिन्तन और मनन का विकास हुआ कि आठों कर्मों के कल-पुर्जे ढीले होने लग जाते हैं। आवरण ढीला होने लगता है। ज्ञान की चमक आते ही अज्ञान और सुख-दुःख की समस्याओं का हल होने लगता है।

दुःख मिले या सुख मिले, ज्ञानवान् पुरुष दुःख को भी सुख बना लेता है। ज्ञान एक एक ऐसा दिव्य यन्त्र है, जिसमें दुःख भी सुख के रूप में ढल जाता है। और जिसे ज्ञान की कला प्राप्त नहीं है, वह सुख को भी दुःख बना लेता है। वह प्रत्येक दशा में हाय-हाय करता रहता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष सुख में भी आनन्द मानता

है, दुःख में भी आनन्द मानता है, उसे सब कुछ प्राप्त है, तो भी आनन्द मानता है। फूलों पर चल रहा है, तो भी आनन्द में है और काँटों में घसीटा जा रहा है, तो भी आनन्द में है। दुःख के समय भी मधुर मुस्कान उसके दिव्य चेहरे पर खेलती रहती है और सुख के समय भी मुस्कान दिखाई देती है। आनन्द प्राप्त करने की यह दिव्य कला ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव ज्ञानावरणीय कर्म को जैनधर्म ने पहला स्थान दिया, तो ठीक ही दिया।

अगर लड़ना है, तो सब से पहले ज्ञानावरणीय कर्म से लड़ो। वह तुम्हारे इस जीवन को और अगले जीवन को भी बिगाड़ता है। इसके विपरीत, ज्ञान अनन्त-अनन्त भवों को सुधारने वाला है। अनन्त और अक्षय काल तक आनन्द देने वाला है।

तुम्हें दूसरे कर्मों को तोड़ने की फिक्र है, वेदनीय और अंतराय कर्मों को दूर करने की चिन्ता है और उसके लिए जप-तप करते हो, देवी-देवताओं की मनौती करते हो और दुनिया-भर के तूफान करते हो। त्यौहार आते हैं, तो उनके सामने मत्था टेकते हो। किन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म को तोड़ने के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करते। उसको तोड़ने की आतुरता नहीं है और कला भी नहीं है। यह अज्ञानता है और बड़ी भयंकर अज्ञानता है। जब तक यह टूट नहीं जायगी और ज्ञान की कला का उदय नहीं होगा, तब तक

कुछ नहीं होगा, तुम्हारे मनोरथ पूरे नहीं होंगे। इसके बिना जीवन में अँधेरा-ही-अँधेरा है।

* * *

अनेकान्त दृष्टि

जैन-संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भावनाएँ दो रूप में जनता के सामने आई हैं—अनेकान्तवाद के रूप में और अहिंसा-वाद के रूप में। अहिंसावाद को आप जल्दी समझ लेते हैं, किन्तु अनेकान्तवाद को समझने में कुछ देर लगती है। जो लोग अपने-आपको जन्म-जात जैन मानते हैं, उनका भी इस युग में, अनेकान्त के सम्बन्ध में कोई खास चिंतन-मनन नहीं हो सका है। लेकिन अनेकान्त को समझ लेना अत्या-वश्यक है। अनेकान्त को भली-भाँति समझे और व्यवहार में लाये बिना अहिंसा भी अधूरी, लंगड़ी ही रहेगी। आज जैनधर्म की अहिंसा में अनेकान्त के दृष्टिकोण का सम्मिश्रण न होने के कारण ही वह लंगड़ी बन गई है। रोशनी देते हुए भी वह हीन मालूम होती है। थोड़े शब्दों में कहा जा सकता है कि अहिंसा के दो रूप हैं—विचारों की अहिंसा, और आचार की अहिंसा ही अहिंसावाद है। हमारे मन में जब तक विचार और आचार के बीच एक गहरे सामंजस्य की प्रेरणा न होगी और मन में समता का भाव उदित नहीं होगा, तब तक आचार की अहिंसा हमें महत्त्वपूर्ण

संदेश नहीं दे सकती। पहले विचारों का क्षेत्र साफ होना चाहिए। उसके बाद ही आचार का क्षेत्र साफ हो सकता है। कोई मनुष्य अपने विचारों का विश्लेषण न करे, उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश न करे और विचारों में दुनिया-भर का कूड़ा-कर्कट भी रक्खे और फिर जीवन-व्यवहार में अहिंसा को लेकर चले, तो वह अहिंसा क्या रूप ग्रहण करेगी ? निस्सन्देह उसका रूप शुद्ध और परिपूर्ण नहीं होगा। मैं जिस अनेकान्तवाद के संबंध में कह रहा हूँ, वह विचारों की अहिंसा है और आचरण की अहिंसा से पहले विचार-क्षेत्र में उसका आ जाना अत्यावश्यक है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर उस युग में जब आये, तो एक ओर मनुष्य अपने स्वार्थों के लिए, अपनी वासनाओं के लिए संघर्ष कर रहा था, दुनिया में तलवारें चमक रही थीं, जनता का संहार हो रहा था और दूसरी ओर धर्म भी आपस में लड़ रहे थे। जो धर्म संसार की आग बुझाने के लिए चले थे, वह पानी के बदले स्वयं ही आग उगल रहे थे। जो जनता का संताप मिटाने आये थे, वे उलटा संताप बढ़ा रहे थे और जो संघर्ष दूर करने का दम भर कर आये थे, वे स्वयं संघर्ष में उलझ गये थे। एक-दूसरे को समझाने में दुर्बल साबित हो रहे थे। इस प्रकार भगवान् महावीर के सामने दोहरा कर्त्तव्य उपस्थित

था। उन्हें रोगी और वैद्य—दोनों की बीमारी दूर करनी थी। अर्थात् जन-समाज के साथ-ही-साथ धर्मों को भी स्वास्थ्य प्रदान करना था। भगवान् ने उस बीमारी का निदान समझ कर कहा—"अनेकान्त ही सब बीमारियों की अमोघ औषधि है। उसे नहीं समझोगे, तो संसार को संदेश नहीं दे सकोगे। अनेकान्तवाद का आश्रय लिए बिना संसार शान्ति नहीं पा सकता और धर्म संसार को शान्ति नहीं दे सकते।"

अनेकान्त की विरोधी भावना एकान्तवाद है। अपने सोचे और समझे हुए किसी विचार के प्रति आग्रहशील होना, यह मानना कि मेरा विचार ही सत्य है और संसार के समस्त विचार असत्य और तुच्छ हैं, एकान्तवाद का परिणाम है। जब कोई भी धर्म इस प्रकार एकनिष्ठ, आग्रहशील हो जाता है और अपने-आपमें पूर्णता का दावा करता है, तो अहंकार की आग सुलगने लगती है। वह आग अपने तक ही सीमित नहीं रहती। जहाँ उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी मिला कि वह लड़ने-मरने को तैयार हुआ। इससे संघर्ष का जन्म होता है। इसी का उग्र रूप हम वर्तमान में देखते हैं, जिसकी बदौलत आज हजारों लाखों हिन्दू और मुसलमान मुसीबतों के पहाड़ अपने सिरों पर उठाये हुए हैं। एकान्तवाद-जन्य असहिष्णुता की एकांगी विचार-धारा ने ऐसे गहरे घाव किये हैं, जो लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं

भर पा रहे हैं और एक विराट समस्या राष्ट्र के सामने मुँह फैलाये खड़ी है।

इसके मूल में देखेंगे, तो विचारों की टक्कर ही दिखाई देगी। हमने एक दूसरे के प्रेम के भाव को, एक दूसरे के दृष्टिकोण को अपने दृष्टिकोण में स्थान नहीं दिया है। उस युग में भी इसी प्रकार के झगड़े और संघर्ष थे। तब महावीर ने कहा—"मतभेद हो सकता है। तेरा कोई दृष्टिकोण हो सकता है और उसका कोई दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है। पर दृष्टिकोण की विभिन्नता को झगड़े की जड़ मत बनाओ। मतभेद होना और चीज है, विरोध होना दूसरी बात है और वैर-विरोध होना तीसरी बात है। भाई-भाई में भी पहनने और खाने के सम्बन्ध में मतभेद होता है, मगर इसमें वैर-विरोध या लड़ाई-झगड़े का क्या काम है? मुझको यह चीज पसंद है और उसको यह वस्तु रुचिकर है, तो वह कोई लड़ने की बात तो नहीं है।"

जैनधर्म कहता है कि "सत्य एक, अखण्ड और सर्व-व्यापक है। यह असीम भी है। इसलिए वह साधारणतया समग्र कोण उपलब्ध नहीं होता। उसके विभिन्न कोण या खण्ड ही साधारण जनों को दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में, यह स्वाभाविक ही है कि सत्य के जिस कोण को एक देखता है, दूसरा, उसी कोण को न देखे और वह किसी दूसरे ही कोण को देखे। ऐसा होने पर उनके दृष्टिकोण

एक दूसरे से मेल नहीं खायेंगे, वल्कि परस्पर विरोधी भी प्रतीत होंगे। मगर वास्तव में वे दोनों उस असीम सत्य के ही भाग हैं, उन्हें सर्वथा मिथ्या या असत् नहीं कहा जा सकता। उन्हें सर्वथा मिथ्या कहना सत् के अंश को मिथ्या कहने का कारण मिथ्या है। यही वात मार्ग के सम्बन्ध में है। सत्य के मार्ग अलग-अलग हैं। संभव है, कोई सीधा और कोई इधर-उधर घुमा-घुमा कर पहुँच सके। अगर कोई मतभेद है, तो उसे प्रेम के साथ,आत्मीयता के साथ तू दूसरे के सामने रख। वह न माने, तो दोवारा मिल। फिर प्रेम के साथ अपनी वात पेश कर और इस प्रकार संघर्ष कर। तेरे जीवन का यही संदेश होना चाहिए।"

एक प्रसिद्ध जैन आचार्य हो गये हैं। उनसे पूछा गया कि मुक्ति कैसे मिलेगी? किस धर्म का अनुसरण करने से मिलेगी? तव वे वोले—

"नाशाम्वरत्वे न सिताम्वरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव॥"

—रत्नमन्दिर गणि

न दिगम्वर वन जाने से मोक्ष मिलता है और न श्वेताम्वर वन जाने से ही। दुनिया-भर के और भी जो तत्त्ववाद हैं, उनसे भी मोक्ष नहीं है। ऐ मनुष्य! जव तेरा छुटकारा क्रोध, मान, माया, लोभ से हो जायगा, तू वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेगा, उनके मैल को दूर

कर देगा, जब तू अपने भीतर की पशुत्व भावना और आसुरी भावना को निकाल बाहर कर देगा, जब तेरे अन्दर में पवित्र, ईश्वरीय भावना जाग उठेगी। इस प्रकार जब तू कषाय से पूरी तरह छुटकारा पा जायगा, तभी तुझे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा, क्योंकि कषायमुक्ति ही वस्तुतः मुक्ति है।

जैनाचार्य हरिभद्र जैन-परम्परा में एक महान् दार्शनिक आचार्य हो गये हैं। कहते हैं, उन्होंने १४४४ ग्रन्थों का निर्माण किया है। आज दूसरे साथी भी आदर और सम्मान के साथ उनका नाम स्मरण करते हैं। उनसे भी यही प्रश्न किया है—मुक्ति कब होगी? तब उन्होंने कहा—

सेयंबरो वा आसंबरो वुद्धो वा तह व अन्नो वा।
समभाव-भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो॥

तू श्वेताम्बर है तो क्या और दिगम्बर है तो क्या? मैं यह नहीं पूछता तू 'शैव' विशेषण वाले धर्म को मानता है या 'वैष्णव' विशेषण वाले को मानता है या 'जैन' विशेषण वाले को मानता है। यह सब मैं नहीं जानना चाहता। मैं सिर्फ एक ही बात पूछता हूँ कि तेरे मन में समभाव कितना जागा है? तू अपने विरोधी के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखता है? जब तू वाद करता है, तो स्नेह देकर स्नेह लेता है या आग देकर आग लेता है? विरोध की भावना देकर विरोध की भावना लेता है अथवा प्रेम और स्नेह के भाव लेता और

देता हूँ ? अगर तेरे जीवन में समभाव आ गया है, तेरे जीवन में कषाय की कलुषता नहीं रह गई है, यदि तू मनुष्य की उच्चतम श्रेणी में पहुँच चुका है, और राग-द्वेष की अग्नि को कुचल चुका है, तो समझ ले कि मोक्ष तेरे सामने खड़ी है। जिस मनुष्य ने सम्पूर्ण निर्विकार अवस्था प्राप्त करली, उसने मुक्ति प्राप्त करली, फिर भले ही वह किसी भी जाति का, किसी भी देश का और किसी भी वर्ग का हो। मुक्त अवस्था प्राप्त होने पर कोई भी जात-पांत या देश का बन्धन नहीं रह जाता है। जीवन की जो अपनी पवित्रता है, वही मोक्ष में जाती है।

यह है अनेकान्तवाद की विचार-सरणी का नमूना! विचार करने पर विदित होगा कि अनेकान्तवाद उस युग में जितना आवश्यक था, उससे भी बढ़ कर आज आवश्यक है। आज आप देखते हैं कि चारों ओर धर्म के नाम पर कितने अन्याय हो रहे हैं ? एक दूसरे की बात को सुनना भी पसन्द नहीं करता। हम गहराई में पैठने की कोशिश नहीं करते और एक दूसरे को चिढ़ाने की बातें ध्यान में रखते हैं। संसार में शान्ति का पीयूष-प्रवाह बहाने का दावा करने वाले धर्म जब एकान्त के चक्कर में पड़ कर घृणा और विरोध का विष फैलाने लगें, तो अनेकान्त की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। और यह आवश्यकता केवल धर्म के लिए ही नहीं, वरन् जीवन

के लिए भी है।

आप किसी दूसरे से मिले। आपस में बातचीत की और संघर्ष हो गया। क्यों? इसीलिए कि आप अपने मत के प्रति अत्यन्त आग्रहशील हैं। आपके दिमाग में दूसरे के मत की युक्ति-युक्तता को समझने की गुंजाइश नहीं। यही हाल उस दूसरे का है। ऐसी स्थिति में संघर्ष के सिवाय और हो ही क्या सकता है? इसी नासमझी के कारण विभिन्न धर्म भारत के लिए सिर दर्द साबित हो रहे हैं। आप एक गज रखते हैं और अपने विचारों के गज से ही सारी दुनिया को नापने चलते हैं। दूसरा, दूसरी भूमि पर बातें कर रहा है। आप उसकी बात नहीं समझना चाहते और वह आपकी बात नहीं समझना चाहता। बस, संघर्ष की सामग्री तैयार है। अनेकान्तवाद इस प्रकार के संघर्षों को न पैदा होने देने का और यदि कहीं पैदा हो गये हों, तो उन्हें मिटाने का एक सबल और अहिंसात्मक तरीका है। जिसमें दुर्बलता नहीं, दृढ़ता है, मिथ्या के साथ समझौता नहीं, सत्य के विविध बाजुओं की संकलना की अपेक्षा है, जिसमें संकीर्णता नहीं, विशालता है, जिसमें अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करने की भी क्षमता है।

* * *

दृष्टि बदलिए

जैनधर्म दृष्टि बदलने की बात कहता है। वह कहता है कि मकान की सफाई कर रहे हो, तो दृष्टि बदल कर करो। सफाई करने में एक दृष्टि तो यह हो सकती है कि मकान सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देखकर लोग तारीफ करेंगे। इस दृष्टि में शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि मैं सफाई रक्खूंगा, तो जीवों की उत्पत्ति नहीं होने पाएगी। फलतः जीवों की व्यर्थ हिंसा से बचाव हो जायगा। और फिर पूंजते समय विवेक रक्खा जाय, अंधा धुंधी न मचाई जाय और पूंजने के साधन कोमल रक्खे जाएँ, कठोर न हों, ताकि उनकी चपेट में आकर जीव मारे न जाएँ। कोई जीव झाड़न में आ जाय, तो उसे सावधानी के साथ अलग जाकर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार घर की सफाई करते समय वर्तमान में भी विवेक रक्खा जाय और भविष्य का भी विचार रक्खा जाय, तो वहाँ धर्म होगा और निर्जरा होगी।

एक बहिन भोजन-पान आदि की सामग्री खुली रख छोड़ती है। कहीं घी ढुल रहा है, कहीं तेल फैल रहा है, कहीं पानी में मक्खियाँ गिर रही हैं, कहीं दाल में चीटियाँ घूम रही हैं! दूसरी बहिन विवेक के साथ सब चीजों को व्यवस्थित रखती है। सब को ढक कर और तरीके के

साथ रखती है। ऐसा करने में भी एक वृत्ति यह है कि मेरी चीजें खराब न हो जाएँ और दूसरी वृत्ति यह है कि जीवों की हिंसा न हो जाय। किसी किस्म की अयतना न होने पाए। सावधानी दोनों जगह रक्खी जाती है, मगर दोनों में कितना अन्तर है? आकाश और पाताल का अन्तर है। एक में मोह है, ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी वृत्ति में जीवों की दया है, अनुकम्पा है। इसी भावना के भेद से ही तो फल में भिन्नता आती है। जहाँ मोह, ममता और स्वार्थ है, वहाँ बन्ध है और जहाँ अनुकम्पा है, वहाँ निर्जरा है। जैनधर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी, फिर मोह-ममता को धारण करके नीचे क्यों उतरते हो? काम करते समय, निर्जरा की जो गंगा बह रही है, उससे वंचित क्यों होते हो? चीज अव्यवस्थित रहेगी, तो खराब होगी, उसमें मक्खी गिरेगी और कष्ट पाएगी। चीज सड़ेगी और असंख्य जीवों की हिंसा होगी। इस प्रकार की दृष्टि रक्खो, जीव-रक्षा की बुद्धि रक्खो।

इस प्रकार जैनधर्म दृष्टि बदलने की सिफारिश करता है, फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, धर्मस्थान में हो या अपने मक़ान में हो। दृष्टि बदलते ही मार्ग बदल जाता है। काम करते हुए भी यदि धर्म-बुद्धि रक्खी जायगी, तो मोक्ष का मार्ग सामने आ जायगा। इस प्रकार जहाँ

कहीं भी विवेकमय जीवन होगा, हर क्षण निर्जरा की जा सकती है।

बोलो, जबान पर ताला लगाये फिरने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु संयमपूर्वक बोलते समय ध्यान रहना चाहिए कि किसी को चोट तो नहीं पहुँच रही है? किसी का बुरा तो नहीं हो रहा है? अगर इस प्रकार समिति का खयाल रख कर बोला जायगा, तो समझ लीजिए, निर्जरा हो रही है।

चलने की जरूरत आ पड़ी है, तो चल सकते हो। जैनधर्म आपके पैरों को बेड़ियों से नहीं जकड़ता। वह सब के लिए पादोपगमन संथारे का विधान नहीं करता। मगर चलना हो, तो देखकर चलना चाहिए। विवेकयुक्त चलना ही वस्तुतः चलना है। साधु देखकर चल रहा है, तो उसको धर्म होगा और आपको नहीं होगा? ऐसी बात नहीं है। आपको भी धर्म होगा, निर्जरा होगी।

आपको घर की चीजें इधर-से-उधर रखनी हैं और साधु को भी अपनी रखनी हैं, तो क्या साधु को ही पात्र इधर-से-उधर धरने में धर्म होगा और आपको नहीं होगा? यदि विवेक रखा जाय, जीवदया की भावना रखी जाय, तो निर्जरा की क्रिया करने से आपको भी निर्जरा होगी।

जैनधर्म का विधान है कि अहिंसा की भावना रक्खी जाय, प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झंकार उठती रहे

और इस प्रकार जीवन समितिमय होकर चलता रहे, तो काम एक होने पर भी फल दो मिल जाएँगे। यानी आपकी चीजें भी सुरक्षित रहेंगी और आप अहिंसा का अमृत भी पीते जाएँगे। कहा है—

'एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा।'

* * *

श्रद्धा और तर्क

एक प्रश्न ऐसा है, यदि उस पर विचार नहीं करेंगे, तो हम जीवन की गुत्थियों को सुलझा नहीं सकेंगे। प्रश्न है—जैनधर्म श्रद्धावादी है या तर्कवादी?

इस प्रश्न को लेकर समाज दो वर्गों में बँट गया है। एक वर्ग तो है, जो श्रद्धा को ही लेकर चलता है। तर्क या दलील से उसे कोई सरोकार नहीं। उसका कहना है कि जो हो रहा है, जो चल रहा है, वह ठीक है। जो परम्पराएँ चालू हैं, वे सब सही हैं।

दूसरा वर्ग वह है, जो मस्तिष्क में तर्क का तीर लेकर चलता है। हर बात में तर्क और हर मामले में दलील से ही वह काम लेना चाहता है। इस प्रकार दोनों वर्ग अपनी-अपनी बात पर अड़ रहे हैं, एकान्त को लेकर लड़ रहे हैं। दोनों अलग-अलग दो किनारों पर खड़े हैं।

जैनधर्म का दृष्टिकोण तो अनेकान्त का दृष्टिकोण है।

वह तो श्रद्धा और तर्क दोनों का समन्वय करता है। उसका कहना है—"मनुष्य ! तू श्रद्धा को लेकर चल। तभी तुझे जीवन का प्रकाश मिलेगा। वृक्ष की जड़ खोखली होगी, तो क्या वृक्ष ठहरेगा ? जड़ जितनी मजबूत होगी, वृक्ष भी उतना ही मजबूत और दृढ़ होगा। ऊपर के फैलाव को न देखो, जड़ की ओर देखो। कोई भी धर्म तब तक पनप नहीं सकता, जब तक उसके मूल में श्रद्धा न हो। श्रद्धा ही न होगी, जीवन की जमीन ही न होगी, तो धर्म पनपेगा कैसे ?

यदि तर्क के मूल में श्रद्धा है, तो उस तर्क का मूल्य है। तर्क और बुद्धि का काम तो कैंची का है। वह मिलाती नहीं, कतर-कतर कर—विश्लेषण और वितर्क करके बखेरती है। तर्क से पहले जोड़ने की बुद्धि है, तो वह तर्क जीवन को सजीव बनाता है। दर्जी कपड़े को काटता है, किन्तु किस लिए ? अगर उसके मन में जोड़ने की भावना है कि इस रूप में जोड़ना है, तो उस कतरने का अर्थ है। कुरता भी, टोपी भी, कोट भी तभी बनता है, जब कपड़ा काटा जाता है ! परन्तु, काटने से पहले जोड़ने की, एक करने की दृष्टि रख कर काटो।"

श्रद्धा कहती है—"बुद्धि ! तू मेरी चेरी बनकर रह। जहाँ मैं कहूँ, वहाँ काट, जहाँ न कहूँ, वहाँ न काट। यदि तू सब जगह कटती ही रही, तो तेरी वृत्ति तो चूहे की है। चूहे के सामने रेशम हो या खद्दर, मलमल हो या

मखमल—कुछ भी कीमती कपड़ा हो, वह काटता रहता है। बुद्धि! यदि तू सब जगह तर्क की कैंची से काटती ही रहेगी, तो न अपना कल्याण कर सकेगी, न दूसरों का।"

इस प्रकार जैनधर्म श्रद्धावादी भी है और तर्कवादी भी। हमारे यहाँ श्रद्धा के भी बड़े गीत गाये गये हैं। और कहा गया है कि यदि श्रद्धा है, तो ज्ञान है, श्रद्धा नहीं, तो ज्ञान भी नहीं। श्रद्धा है, तो श्रावकत्व है, साधुत्व है, अहिंसा है, सत्य है। यदि श्रद्धा नहीं, तो श्रावकत्व भी नहीं, साधुत्व भी नहीं, कुछ भी नहीं; क्योंकि सारे धर्मों का मूल श्रद्धा पर टिका हुआ है—

"दंसणमूलो धम्मो।"

दूसरी ओर, जब भगवान् महावीर से यह पूछा जाता है कि भगवन्! धर्मतत्त्व का निश्चय किस प्रकार करें, तो उन्होंने पोथी-पन्नों का नाम नहीं लिया, उन्होंने स्पष्ट कहा—"धर्म-तत्त्व का विनिश्चय मानव की प्रज्ञा—शुद्ध बुद्धि ही कर सकती है—

"पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त-विणिच्छियं।"

—उत्तराध्ययन, २३/२५

भगवती-सूत्र में गौतम भगवान् से प्रश्न पूछते हैं, तो भगवान् महावीर उत्तर देते जाते हैं। उत्तर मिलने पर गौतम भगवान् से भी तर्क करते हैं—

"केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?"

भगवन् ! ऐसा आप किस न्याय और किस दृष्टि से कह रहे हैं ? भगवान् से भी, केवल ज्ञानी से भी तर्क और दलील करते हैं। किन्तु आज शिष्य गुरु से, अथवा कोई युवक किसी संत से तर्क करता है, तो उसके स्वर को वहीं यह कह कर दवा दिया जाता है कि बस, बैठ जा, कुछ आता-जाता तो है नहीं, लगा है बातें छोंकने। जो हम कहते हैं उसे स्वीकार कर।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि "जीवन में श्रद्धा और तर्क दोनों ही चाहिएँ। श्रद्धा के अभाव में कोरा तर्क विना लगाम का घोड़ा है। और तर्क के अभाव में कोरी श्रद्धा केवल लगाम है। घोड़ा ही नहीं होगा, तो लगाम लगेगी कहाँ ? एक के घर में लगाम हो और दूसरे के घर में घोड़ा खड़ा हो, तो क्या काम चलेगा ? घोड़ा भी चाहिए और लगाम भी चाहिए।

मानव-जगत् के प्रति जैनधर्म का संदेश है कि "मनुष्य ! तू अविश्वासी न वन। श्रद्धा की ज्योति लेकर चल। किन्तु, वह श्रद्धा अन्धी अथवा मृत न हो। श्रद्धा के आगे तर्क का, बुद्धि का घोड़ा भी चाहिए। तर्क और श्रद्धा का समन्वय जिस व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में होता है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्र अपनी समस्याओं को सुलझाता हुआ चलता है और फलता-फूलता है—आगे-आगे बढ़ता चलता है।

* * *

बिंब और प्रतिबिंब

मनुष्य जब छल-कपट द्वारा दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, तो उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि जब वह दूसरों को धोखा देने चलता है, तो संसार तो प्रतिध्वनि का कुआ है। आप कुए के पास खड़े होकर, उसकी तरफ मुँह करके, जैसी ध्वनि निकालेंगे, वैसी ही ध्वनि आपको सुनाई देगी। गाली देंगे, तो वापिस गाली सुनने को मिलेगी और यदि प्रेम का संगीत छेड़ेंगे, तो वही आपको भी सुनाई देगा।

यह संसार भी ऐसा ही है। वाणी में जिन विचारों का रूप व्यक्त किया जायगा और जो दृष्टि बनाकर संसार के सामने खड़े हो जाओगे, उसकी प्रतिक्रिया ठीक उसी रूप में आपके सामने आएगी। जो धोखा और फरेब लेकर संसार के सामने खड़े होते हैं, उन्हें बदले में वही धोखा और फरेब मिलते हैं। जो संसार को आग में जलाना चाहेंगे, वे स्वयं भी उस आग की लपटों से झुलसेंगे ही, बच नहीं सकते।

एक व्यक्ति का संसार के साथ क्या सम्बन्ध है? इस दिशा में कुछ दार्शनिकों ने बतलाया है कि उसका यह सम्बन्ध बिंब और प्रतिबिम्ब जैसा है। अर्थात् एक मनुष्य का अपने आस-पास के संसार जो पर प्रतिबिम्ब पड़ता है

और जैसा प्रतिबिम्ब डालता है, वैसे ही स्वरूप का दर्शन उसे होता है। मान लीजिए, आपके हाथ में दर्पण है। आप उसमें अपना मुँह देखना चाहते हैं, तो मुँह की जैसी आकृति बनाकर आप दर्पण में डालेंगे, वैसी ही आकृति आपको दिखाई देगी। चेहरे से भयंकरता बरसा कर देखेंगे, तो भयंकर रूप दिखाई देगा और देवता-जैसा सौम्य रूप बनाकर देखेंगे, तो देवता-जैसा ही रूप दिखाई देगा। दर्पण में जैसा भी रूप व्यक्त करेंगे, वैसा ही आपके सामने आ जाएगा।

अगर आप दर्पण को दोष दें "कि उसने मेरा विकृत रूप क्यों दिखाया ? मेरा साफ चेहरा क्यों नहीं दिखलाया ? और आप उस पर गुस्सा करें, तो गुस्सा करने से समस्या हल होने वाली नहीं है। आप उसे तोड़ दें, तो भी हल मिलने वाला नहीं है। आप दर्पण में अपना सौन्दर्य देखना चाहते हैं, चेहरे की खूबसूरती देखना चाहते हैं और सौम्य भाव देखना चाहते हैं, तो इसका एक ही उपाय है। आप अपने मुख को शान्त और सुन्दर रूप में दर्पण के सामने पेश कीजिए। दर्पण के सामने शान्त रूप में खड़े होंगे, तो वही शान्त रूप आपको देखने को मिलेगा।

व्यक्ति का सम्बन्ध संसार के साथ बिंब-प्रतिबिंब का सम्बन्ध है। जैन-धर्म ने इस सत्य का उद्घाटन बहुत पहिले ही कर दिया है कि—"तू संसार को जिस रूप में देखना

चाहता है, पहले अपने-आपको वैसा बना ले। तेरे मन में हिंसा है, तो संसार में भी तुझे हिंसा मिलेगी। तेरे मन में अहिंसा और सत्य है, तो तुझे भी सर्वत्र अहिंसा और सत्य के ही दर्शन होंगे ?

* * *

अन्ध-विश्वास

आप देखते हैं, आज भी जनता में हजारों तरह के अंध-विश्वास अपना अड्डा जमाये हुए हैं और हजारों वर्ष पहले भी अड्डा जमाये हुए थे। जनता में घर किये अंध-परम्पराओं की गणना करने बैठें, तो शायद पूरी गणना ही न कर सकें।

मनुष्य अपनी इच्छाओं का गुलाम बना रहता है और अपनी वासनाओं का दास बना रहता है। जब दास बना रहता है, तो उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न करते समय कहीं-कहीं तो ठीक कदम रखता है, परन्तु प्रायः देखा जाता है कि वह अपने कदमों की जाँच नहीं कर पाता और अपने अन्ध-विश्वास से प्रेरित होकर ऐसा गलत रास्ता अपना लेता है कि सत्य की सीमा से बाहर निकल कर असत्य के क्षेत्र में जा पहुँचता है। उसका प्रभाव अपने तक ही सीमित न रहकर राष्ट्र पर भी पड़ता है।

आपको विदित है कि भारतवर्ष में हजारों देवी-देवता

हैं। वे कहीं नदी के रूप में, कहीं पहाड़ों के रूप में, कहीं वृक्षों के रूप में, और कहीं-कहीं ईंटों एवं पत्थरों के रूप में विराजमान हैं। विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है, मानों भारत के अन्धविश्वासियों ने प्रत्येक ईंट-पत्थर को देवता बना छोड़ा है, हरेक नदी-नाले को देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है और प्रत्येक पाषाण और पहाड़ को देवता के रूप में कल्पित कर लिया है।

इन तमाम देवताओं के ऊपर भारत की कितनी शक्ति व्यय हो रही है? देश की जन-शक्ति का व्यय हो रहा है, धन और वैभव का व्यय हो रहा है और बहुमूल्य समय का भी व्यय हो रहा है। हजारों-लाखों आदमी इन देवी-देवताओं के पीछे इधर-से-उधर भटक रहे हैं। उनकी मनौती और आराधना के पीछे नाना प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। कुछ लोग भयभीत होकर उनकी सेवा में जाते हैं, तो बहुत से लोग लोभ से प्रेरित होकर उनके आगे मत्था टेकते हैं। हजारों आदमी इस आशंका से कि कहीं मैं, मेरे परिवार के बच्चे, मेरी पत्नी, माता या अन्य सगे-सम्बन्धी बीमार न हो जाएँ, किसी संकट में न पड़ जाएँ, अतः इन देवताओं की मनौती मानते हैं।

संयोगवश, कभी कोई दुर्घटना हो गई, तो बहुत से लोग उसे दैवी प्रकोप का ही परिणाम समझ लेते हैं और फिर उसकी शान्ति के लिए देवी-देवता की पूजा और

मनौती की जाती है। इसी प्रकार धन के लालच के वशीभूत होकर बहुत से लोग देवता की शरण लेते हैं। कोई-कोई सन्तान पाने की कामना से देवी की आराधना करते हैं। वे समझते हैं कि पेड़ या पाषाण के देवता के पास धन का अक्षय भंडार भरा पड़ा है और वह अपनी उपासना से प्रसन्न होकर उसके लिए अपने भंडार का द्वार खोल देगा। या देवता के पास सन्तान दे देने की शक्ति मौजूद है और मनौती से वह उसे प्राप्त हो जायगी।

इस प्रकार धन और सन्तान की अभिलाषा से बीमारी आदि अनर्थों से बचने के लिए, सुख-सौभाग्य पाने के लिए, यहाँ तक कि अपने विरोधी का विनाश करने के लिए भी लोग देवी-देवताओं के गुलाम बने रहते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि लोग स्वयं ही देवता का निर्माण कर लेते हैं और फिर स्वयं ही उसकी पूजा करने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार नाना तरह की इच्छाओं से प्रेरित होकर हजारों आदमी देवी-देवताओं के पास भटकते हुए नजर आते हैं।

भारतीय जीवन की यह विरूपता बड़ी ही विस्मजनक है। भारत के हजारों-लाखों वर्षों के इतिहास को देखेंगे, तो पता चलेगा कि एक ओर यहाँ उच्चकोटि का आध्यात्मिक चिन्तन जागृत था। लोग परमेश्वर का मार्ग पकड़े हुए थे और अहिंसा एवं सत्य के मार्ग पर मजबूत कदम भी

रखते थे। आध्यात्मिक जीवन का चिन्तन इतना गहरा था कि उसे नापना भी कठिन है। आपस के पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का चिन्तन भी कम गहरा नहीं रहा है। किन्तु इसके साथ ही देवी-देवताओं की भी ऐसी भरमार रही है कि सब को इकट्ठा किया जाय, तो एक बहुत विशाल सेना भी उनके सामने नगण्य जँचने लगे। इस प्रकार आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ असंख्य अन्ध-विश्वास भी हमारे देश में कदम-से-कदम मिलाये चलते प्रतीत होते हैं।

* * *

नई जिन्दगी

सन्त जब मिलते हैं, तो कई लोग उनकी जाति पूछते हैं, और कोई बात नहीं पूछते। हाँ, उसका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं, मगर यह सब बातें क्या साधु से पूछने की हैं? साधु अपनी पहली दुनिया को भूल जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार नहीं कि वह पहले क्या था, किस रूप में था? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र क्या था? इन सब चीजों को छोड़ कर उसने नया जन्म लिया है, नई जिन्दगी अपनायी है। जब कोई मनुष्य इस जन्म में उत्पन्न होता है, तो उसे अपने पिछले पुराने जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण

नहीं रहता। प्रकृति उसे स्मृति नहीं रहने देती और वर्तमान ही उसके सामने खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है, तो वह भी एक नया जन्म पाता है और नयी जगह में प्रवेश करता है। नयी जिन्दगी पाकर पुरानी जिन्दगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़ कर आया है, अगर उसे अपने दिमाग में से नहीं निकाल सका है और जिस कुल में से आया है, उसे नहीं भुला सका है, तो जैनधर्म कहता है कि उसका नया जन्म नहीं हुआ है, वह साधु नहीं बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है। पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के संस्कारों में उलझा हुआ है। उन्हीं संस्कारों को अपने जीवन पर लादे हुए चल रहा है और जब चल रहा है, तो जीवन में महान् आदर्श, जो आना चाहिए, नहीं आ पाता।

'अप्पाणं वोसिरामि' कह कर साधु ने पुरानी बातों को काट कर फेंक दिया है। उसके आगे महल है, तो क्या और झोंपड़ी है तो क्या? अपमान होता है, तो उसे क्या और सम्मान होता है, तो भी उसे क्या? उसके लिए यह सब खाइयाँ पुर गई हैं और अब वह इन सब से अतीत हो चुका है। साधु ही एकमात्र उसकी जाति है। वहाँ दूसरी कोई जाति ही नहीं है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी बात पूछते हैं और पुराने संस्कारों की बात याद दिलाते रहते हैं,

जिन्हें भुला देना चाहिए। हम तो यह चाहते हैं कि ऐसी बातें सम्पूर्ण भारत भुला दे। मगर यह तो दूर की बात है। फिलहाल तो साधु भी इन्हें नहीं भुला पा रहे हैं, तो दूसरों से क्या आशा की जाय ? संत कबीर कहते हैं :—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥

किसी साधु की जाति मत पूछो कि वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय या क्या है ? जाति पूछ कर क्या करोगे ? पूछना ही है, तो उसका ज्ञान पूछो, उसका आचरण पूछो और यह पूछो कि जीवन का फूल खिला है या नहीं ? वह जीवन का फूल महक अर्पण कर रहा है या नहीं ? म्यान में तलवार पड़ी है और तलवार खरीदने वाला है, वह तलवार का मोल करता है या म्यान का ? लड़ाई तलवार से होगी या म्यान से ? म्यान तो म्यान है, उसका अपने-आप में क्या मूल्य है ? वह सोने की हो और उसमें काठ की तलवार हो, तो उसकी क्या कीमत है ?

तो कर्त्तव्य की दृष्टि से जैनधर्म की एक ही बात है कि तेरे कितने ऊँचे और अच्छे विचार हैं और तूने जीवन की पवित्रता पाकर आचार क्या कमाया है ? जिसके पास पवित्र विचार और पवित्र आचार की पूंजी है, वही भाग्यशाली है और जैन धर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

* * *

द्विज बनो

भारतीय संस्कृति में एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारी श्रावक को भी 'द्विज' कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी 'द्विज' कहते हैं। पक्षी पहले अंडे के रूप में जन्म लेता है। अंडा प्रायः लुढ़कने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। जब वह नष्ट न हुआ हो और सुरक्षित बना हुआ हो, तब भी वह उड़ नहीं सकता। पक्षी को उड़ाने की कला का विकास उसमें नहीं हुआ है। किन्तु, भाग्य से अंडा सुरक्षित बना रहता है और अपना समय तय कर लेता है, तब अण्डे का खोल टूटता है और उसे तोड़ कर पक्षी बाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अंडे के रूप में होता है, और दूसरा जन्म खोल तोड़ने के बाद पक्षी के रूप में होता है। पक्षी अपने पहले जन्म में कोई काम नहीं कर सकता—अपने जीवन को ऊँची उड़ान नहीं भर सकता। वह दूसरा जीवन प्राप्त करने के पश्चात् ही लम्बी और ऊँची उड़ान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन संस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी बदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात् वह राम बनेगा या रावण, उस चोले में शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा

देवता—यह नहीं कहा जा सकता । उसका वह रूप साधारण है, दोनों के जन्म की संभावनाएँ उसमें निहित हैं । आगे चल कर जब वह विशिष्ट संज्ञा प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र में आता है और अपने जीवन का स्वयं निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की वृत्तियों को जगाता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है ।

जब मनुष्यता जाग उठती है, तो ऊँचे कर्तव्यों का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उड़ान लेता है । ऐसा मनुष्य जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र में जन्म लेता है, वहीं अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयों को प्राप्त करता है ।

अगर तुम अपने मनुष्य-जीवन में मनुष्य के मन को जगा लोगे, अपने भीतर मानवीय वृत्तियों को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के सौरभ को संसार में फैलाना शुरू कर दोगे, तब दूसरा जन्म होगा । उस समय तुम मानव 'द्विज' बन सकोगे । यह मनुष्य जीवन का एक महान् सन्देश है ।

* * *

विचार-संघर्ष

विचारों में भेद हो सकता है। जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र एक ही है और दुराग्रह किसी ओर नहीं है, तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि कभी न कभी प्रस्तुत विचार-भेद समाप्त हो जाएगा। परन्तु जब तक विचार-भेद समाप्त नहीं हुआ है, प्रत्येक को समभाव से, सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करना चाहिए। विचार-विभिन्नता को लेकर झगड़ने की प्रवृत्ति सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग नहीं है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि किसी ने कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे मान ली गई, तो उसका भी कोई मूल्य नहीं है। जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई या इन्कार की गई है, उसी का कुछ मूल्य होता है। मगर आग्रह के तौर पर स्वीकार या अस्वीकार करने की भी कोई कीमत नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विवेक-पूर्वक सत्य के प्रति गाढ़ी आस्था रख कर, चिन्तन-मनन किया जाय और तब किसी बात को स्वीकार किया जाय।

जैनधर्म मनुष्य के विचारों को धक्का देने के लिए या कुचल देने के लिए नहीं है। वह तो विचारों को मोड़ देने के लिए है। जो विचार-प्रवाह बह रहा है, उसे चिन्तन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही जैन-

धर्म का काम है। विचारों को मोड़ देने के लिए प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। इसी कारण जब-जब विचार-संघर्ष होता है, तो मुझे आनन्द आने लगता है। जो व्याख्यान सुनने के बाद तुरन्त ही समाप्त हो जाय और जिस प्रवचन से विचारों में नई हलचल और कम्पन उत्पन्न न हो, वह किस काम का? कुछ हलचल होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी चाहिए, कुछ संघर्ष होना चाहिए। तभी तो मानस-तल में बद्धमूल भ्रान्त संस्कारों की जड़ हिलेगी, तभी वे ढीले पड़ेंगे और अन्त में उखड़ कर नष्ट हो सकेंगे। अलबत्ता वह हलचल, उथल-पुथल और संघर्ष विचारों तक ही सीमित रहना चाहिए। उसने अगर झगड़े का रूप धारण कर लिया, तो परिणाम अवांछनीय होता है।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और सत्य के लिए जो समर्पित है, वह झगड़े की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। वह जानता है कि विचारों के संघर्ष से ही सत्य का मक्खन हाथ आने वाला है। मगर उस संघर्ष ने अगर झगड़े का रूप ग्रहण कर लिया, तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा। अतएव सत्य का अन्वेषक जब संघर्ष आरम्भ करता है, तो हँसते-हँसते और संघर्ष का अन्त करता है, तो भी हँसते-हँसते!

* * *

मारना नहीं, साधना है

कुछ लोग कहते हैं कि मन को मारना साधक के लिए आवश्यक है। लेकिन जैन-धर्म कहता है कि मन को मारना नहीं है, मन को साधना है। मारना चीज और है और उसको साधना यह चीज और है।

जैन-धर्म की आज्ञा मन को मार देने की नहीं, परन्तु मन को साधने की है। इसी प्रकार कुछ लोग कहते हैं कि इन्द्रियों को मारा जावे। इन्द्रियों को मारना, उनको क्षीण करना यह हमारा उद्देश्य नहीं, परन्तु इन इन्द्रियों को साधना और अपने नियन्त्रण में लाना, अपनी आज्ञा के अनुसार उनको चलाना और इस प्रकार इन पर शासन करना—यह हमारे तप का उद्देश्य है। यही जैन तप की सही परिभाषा है। इस तरह से इन्द्रियों को साधना है, मारना नहीं।

जैनधर्म के तप का उद्देश्य इस शरीर को मारना है या कि इसको साधना है? इस सम्बन्ध में जो कुछ भी मेरा अध्ययन है, एक तटस्थ साधक की दृष्टि से उन प्रचीन आचार्यों और उन के महान् ग्रन्थों की छाया में बैठ कर, जो कुछ भी मैंने सोचा और विचार किया है, उसके अनुसार मैं कह सकता हूँ कि इनको मारने जैसी चीज कोई हमारे यहां नहीं है, हमारे यहां केवल साधने जैसी चीज है।

तो, शरीर को साधना, यह जैनधर्म के तप का उद्देश्य है, उसे मारना नहीं। इसी प्रकार से इन्द्रियों को मारना यह भी जैनधर्म के तप का उद्देश्य नहीं है, मगर इन्द्रियों को साधना यही उद्देश्य है। इसी प्रकार मन को मारना, यह जैनधर्म के तप का उद्देश्य नहीं, परन्तु मन को साधना, यह जैनधर्म के तप का उद्देश्य है।

मैं आपके साथ विचार कर रहा था कि यह जो शरीर हमें मिला है और ये जो इन्द्रियाँ और मन, यह बुद्धि और यह चेतना, और एक विशाल जीवन जो हमें इस शरीर के रूप में मिला है, तो आखिर विचारे इस शरीर का क्या दोष है कि जो हम लट्ठ लेकर दौड़ पड़ते हैं इस पर और इससे हाथापाई करते हैं। वह विकार जो है, वह तो तुम्हारे अन्दर बैठा है। अगर सांप है और वह बांबी में घुस गया है, तो बांबी पर लाठियाँ मारना कोई वीरता नहीं है। हमारी लड़ाई बांबी से नहीं, सांप से है।

हृदय यह भी एक बिल है और मन यह भी एक बिल है। यह ठीक है कि अन्दर जो विकार है, वह चाहे क्रोध के रूप में हो, अभिमान, माया, लोभ या वासनाओं के रूप में हो, वह विकार-रूपी सांप अन्दर बैठा है, तो उस विकार के ऊपर प्रहार करने के लिए और जरा उसको बाहर में लाकर उससे मुकाबला करने के, लिए और यह कहने के लिए कि ऐ विकार! तेरी हरकतों को हम इधर उधर नहीं

जाने देंगे और आज तुझे बन्द करके ही छोड़ेंगे; इस शरीर पर नियन्त्रण करना, इसको साधना यह हमारा काम है, उसको मारना यह हमारा काम नहीं है।

कुछ लोग समझते हैं कि शरीर अगर किसी का बलवान् है, तो उसे दुर्बल बनावें। उसको कृश बनावें। शरीर अगर किसी को बलवान् मिला है और वह अगर बलवान् रहे, तो मुझे नहीं मालूम क्या आफत आ जावेगी? इसी तरह किसी का हृदय तेजवान् है, प्रतिभा-सम्पन्न है, तो उस पर भी प्रहार करना और उसकी शक्ति को, उसकी प्रतिभा को क्षीण किया जाना, यह भी कुछ लोग तप का लक्षण समझ जाते हैं।

पर, मैं विचार करता हूँ कि जैनधर्म ने वास्तव में इस सम्बन्ध में जो विचार-धारा रखी है और जिसे अगर हमने गहराई से विचारा और सोचा है, तो मालूम पड़ेगा कि शरीर का सशक्त और मजबूत रहना आवश्यक है, जिससे सुख और दुःख में, कैसी भी परिस्थिति में, कैसे भी झंझटों में अगर कोई पड़े, तो सशक्त शरीर उनका मुकाबिला कर सकता है। इस बात को जैनधर्म के तप में स्वीकार किया गया है। यह दूसरी चीज है कि शरीर विलासी बने। विलासी बनना और सशक्त रहना—दोनों भिन्न चीजें हैं। शरीर का विलासी बन जाना और चीज है और इन्द्रियों का सशक्त रहना, समर्थ रहना—यह और चीज है। जीवन

की समस्याओं का ठीक निर्णय करने में समर्थ रहना और उन समस्याओं का विश्लेषण करने की क्षमता रखना, सुख में, दुःख में, और आपत्तियों से संघर्ष करने में मन का बलवान् बना रहना, सशक्त और तेजस्वी बना रहना और चीज है और उसका विलासी हो जाना और चीज है। दुर्भाग्य से हम विलासिता में और सशक्त बने रहने में अन्तर करके नहीं चल रहे हैं।

इसका अर्थ क्या है कि हम शक्ति को विलासिता मान लेते हैं। अगर किसी का शरीर सशक्त है, तो शरीर को निर्बल बनाना, अशक्त बना देना, उसे पंगु बना देना और ऐसी हालत में लाकर पटक देना कि समय पर अगर कोई दुःख आ जावे, तो उसको भी सहन करने की क्षमता नहीं रहे। इधर-उधर दो चार धक्के लगे कि लड़खड़ाने लगे। ठीक तरह से काम करने की क्षमता न रहे, जीवन की यात्रा को ठीक तरह से तै करने की क्षमता न रहे और वह तपश्चर्या के बाद कृश बन जावे, जीवन के संघर्ष की लड़ाइयों में मजबूत होकर काम नहीं कर सके। इस प्रकार निर्बल और मुर्दा विचारों का, लाशों का ढेर बनकर रह जावे, और अपने जीवन के रहस्य को समझ न सके, तो यह शरीर को मारना है, साधना नहीं है।

कल्पना करो, किसी के पास एक घोड़ा है। है तो वह बहुत अच्छा और मजबूत। उसकी बड़ी तेज चाल है, बहुत

चंचल है और इतना समर्थ है कि निरन्तर हरकतों में रहता है और सवार जब बैठ भी जावे, तो ऐसी पटक मारे कि सवार को नीचे गिरा दे। अगर इतना तेज घोड़ा किसी को मिल गया है, तो उस हालत में सवार को रोना चाहिए कि हँसना चाहिए? बतलाइये, क्या करना चाहिए?

मैं समझता हूँ कि उसे उस घोड़े पर नहीं बल्कि उस पर चढ़ नहीं सकने की अपनी निर्बलता पर रोना चाहिए। बोलिये आप उस निर्बलता पर रोवेंगे या हँसेंगे? घोड़े को साधना तो हमारा काम है। अगर इतना चंचल है कि ठीक गति के अन्दर काम करने की उसकी क्षमता नहीं है, बाजार में गया और जरा बाजा बजा कि घोड़ा भड़क गया। जरा इधर-उधर छैल-छबीली चीजें मिलीं और भड़क गया और इसी प्रकार बाजार में मोटर का हॉर्न बज जावे, तो बेकाबू हो जावे। अगर यह स्थिति है और बैठने नहीं देता है, तो उस समय बुद्धिमता का काम यह है कि उस घोड़े को मारे नहीं, उसे साधना चाहिए। अगर उस समय उस घोड़े को मारने लगें, और मार-मार कर कचूमर निकाल दें। घोड़ा बिलकुल ऐसी मुरदार हालत में चला जावे और उस वक्त उस पर सवार होकर कहें कि सब ठीक हो गया है, तो इस प्रकार घोड़े की लाश पर, बैठकर उसे अशक्त और निर्बल बनाकर उसकी लाश पर शान्ति की माला जपना—यह जैनधर्म का आदर्श नहीं है।

शरीर भी एक प्रकार का घोड़ा है और आत्मा उसका सवार है। अगर घोड़ा मजबूत मिला है किसी को, अच्छा मिला है, अच्छी स्फूर्ति वाला मिला है और इतना तेज मिला है कि वह आत्मा को उस पर सवार न होने दे, तो ऐसी हालत में अगर तुम गड़बड़ा जाते हो, तो शरीर को साधो और उसे साधने के लिए बाह्य तप भी करना चाहिए। ये सब के सब तप केवल साधन-मात्र मूल में रहें। शरीर को साधने के लिए रहें। सम्भव है किसी दिन खाना मिले या नहीं, पर आपकी तैयारी इतनी अच्छी रहे कि उस समय आप भूख के पीछे पागल बनकर न्याय और अन्याय का विचार न छोड़ बैठें। ऐसी हालत में, यदि इस शरीर की गुलामी में रोकर जीवन गुजारने की अपेक्षा इस भूख को सहन कर सकने में, प्यास को सहन कर सकने में, सरदी और गरमी को सहन कर सकने में, और शरीर की व्याधियों और आपत्तियों को सहन करने में शरीर समर्थ बन रहा हो, तो ऐसा तप जीवन के लिए आवश्यक है।

तप के सम्बन्ध में जैनधर्म का यही दृष्टिकोण है। इस शरीर को केवल तपाना ही लक्ष्य नहीं है बल्कि इसको अपने नियन्त्रण में लेना है, इसके ऊपर शासन करना है। जिस समय जैसा हम चाहें, उस समय वैसा ही हमारा शरीर सुख और दुःख दोनों रूपों में आनन्द में रह सके, सरदी-

गरमी और भूख-प्यास जैसी कोई भी स्थिति क्यों न हो, उस समय भी मन ठीक रूप में जीवन का मालिक बनकर रह सके, गुलाम बनकर नहीं, यह स्थिति पैदा कर देना, हमारे बाह्य तप का उद्देश्य है। और ऐसा तप ही हमारे जीवन के कल्याण का साधन है, विकास का मार्ग है। अगर हम इस विकास के मूल और सूक्ष्म दृष्टिकोण को भूल जाते हैं, तो जीवन में कुछ भी नहीं रहता है।

* * *

रोग की चिकित्सा

सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी जीवन का त्राण नहीं हो सकता। अगर तुम त्राण चाहते हो और निर्वाण पाने की अभिलाषा रखते हो, तो उसके लिए तुम्हें आचरण करना पड़ेगा। कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम-से-उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह-शाम पढ़ लिया करे, तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जायगी? नहीं, नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। कहीं ऐसा होता देखा जाय, तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ घोख लेने और उगल देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जायगी। मगर ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है। एक साधक ने कहा है—

कायेनैव पठिष्यामि, वाक्पाटेन तु किं भवेत् ?
चिकित्सा-पाठमात्रेण, न हि रोगः शमं व्रजेत् ।।

—बोधिचर्यावतार

जो भी शास्त्र मुझे पढ़ना है, वह मैं जीवन से पढ़ूँगा ; जवान से नहीं पढ़ूँगा। जवान से बोल लेने से क्या होने वाला है ? आयुर्वेद की पुस्तकों को रट लेने से और चरक तथा सुश्रुत को घोख लेने मात्र से कोई नीरोग नहीं हो सकता। हजार वर्ष तक घोखा करो, तो भी उससे मामूली बुखार और जरा-सा सिर दर्द भी दूर नहीं होगा, उलटा शरीर गलता जायगा और सड़ता जायगा।

तो, यह बात हम भली भाँति समझते हैं कि आयुर्वेद को कंठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नहीं होता। यही बात संसार के धर्मशास्त्रों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्मशास्त्र हैं, वे भी हमारी चिकित्सा करने के लिए हैं। आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा की विधि जानी जाती है और धर्मशास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा होती है। हमारे भीतर पैठी हुई वासना ही मन और आत्मा की बीमारी है। किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की और किसी को लोभ की बीमारी सता रही है। किसी भी धर्मशास्त्र को लीजिए। उसमें इन बीमारियों की चिकित्सा का विधान है, परन्तु उन शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। शास्त्रों की बातों को

जीवन में उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कथा पढ़ लेने से सत्यवादी नहीं बना जा सकता, किन्तु हरिश्चन्द्र ने जैसा आचरण किया था, वही करेंगे, तो सत्यवादी बन सकेंगे।

* * *

आचारः परमो धर्मः

किसी दीपक में अन्दर तेल नहीं है। उसमें बत्ती डाल दी जाय और दियासलाई से जला दी जाय, तो बत्ती जल तो उठेगी और रोशनी भी जल्दी फैल जायगी; किन्तु रोशनी फैल रही है उस दीपक से, जिसके भीतर तेल नहीं है। वह कितनी देर के लिए है? एक क्षण के लिए बत्ती भभकेगी और रोशनी फैलाएगी; किन्तु दूसरे ही क्षण वह जल कर खाक हो जायगी, और फिर वैसा ही अन्धेरा हो जायगा। दीपक को अधिक देर तक प्रज्वलित रखना है और प्रकाश देना है, तो उसमें तेल का होना आवश्यक है। जितना तेल उसमें होगा, उतनी ही देर वह प्रकाश देता रहेगा।

दीपक के सम्बन्ध में जो बात है, वही जीवन के सम्बन्ध में भी है। जीवन में यदि चारित्र का बल नहीं है, चारित्र का तेज नहीं है, तो बाहर जो भी चमक है, बाहर में जो भी प्रकाश मालूम होता है, उसके द्वारा एकदम प्रकाश बिखेरा

जा सकता है, किन्तु वह स्थायी नहीं होगा। वह जल्दी जलेगा और जल्दी ही बुझने को भी तैयार रहेगा।

इसके विपरीत, यदि जीवन में आन्तरिक चारित्र-बल है, तो वह प्रकाश यहाँ ही नहीं, बल्कि जन्म-जन्मान्तर में भी चमकता हुआ हमारे जीवन को आलोकमय बनाएगा और आगे बढ़ाएगा।

इस प्रकार हम आचार को अपने जीवन में बड़ा महत्त्व देते आये हैं। एक आचार्य ने कहा है—

> आचारः परमो धर्म, आचारः परमं तपः।
> आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं न सिद्ध्यति॥

आचार, जिसे मैं आन्तरिक चारित्र-बल कह रहा हूँ, परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचार से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

बात बिलकुल ठीक है। जिसकी आत्मा में सच्चे चारित्र का उद्भव हो चुका है, उसे और कोई धर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे तीर्थाटन करने की या छापा-तिलक लगाने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार आचार अपने-आपमें महान् तप है। तप का उद्देश्य चारित्र-बल की प्रशस्त भूमिका पर पहुँचना ही तो है? और जो इस भूमिका पर पहुंच गया है, उसके लिए तप की कुछ अनिवार्यता नहीं रह जाती। शास्त्र में ज्ञान की सार्थकता आचार में बतलाई गई है। आखिर बुराई को बुराई और

भलाई को भलाई समझने का फल क्या है? यही न कि मनुष्य बुराई से बच कर रहे और भलाई का सेवन करे। यही चारित्र कहलाता है। जिसे यह चारित्र प्राप्त हो चुका है, उसे ज्ञान भी प्राप्त हो चुका है। लौकिक तथा लोकोत्तर, जो भी सिद्धियाँ तुम प्राप्त करना चाहते हो, उनके लिए चारित्र की महती आवश्यकता है। चारित्र के विना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती और चारित्र की मौजूदगी में कोई भी सिद्धि नहीं, जो अनायास ही प्राप्त न हो सके।

आपके अन्दर जो चारित्र है, वह जितना बलवान् होगा, आपका बाहरी जीवन भी उतना ही महान् बनेगा। और आन्तरिक चारित्र नहीं, तो बाहर का जीवन भी महान् नहीं बन सकता।

आन्तरिक चारित्र-बल आत्मा के समान है और बाह्य क्रियाकाण्ड शरीर के समान। आत्मा के अभाव में शरीर निस्तेज हो जाता है। उसे चमकाने के हजारों प्रयत्न भी कारगर नहीं हो सकते। कितना ही उसे सजाओ, सिंगारो और विभूषित करो; मगर उस आत्म-विहीन शरीर में रौनक नहीं आने वाली है। इसी प्रकार चारित्र-बल के अभाव में, बाह्य क्रियाकाण्ड जीवन में चमक और तेज उत्पन्न नहीं कर सकता।

मैं समझता हूँ, इस ध्रुव सत्य को समझने में पहले

और आज भी भूलें होती जा रही हैं। आज के जीवन में मनुष्य, अन्दर में तैयार हो या नहीं, चारित्र का बल प्राप्त कर चुका हो या नहीं; किन्तु बाहर में चलना चाहता है और रोशनी देना चाहता है। इस रूप में जैन भी बड़े-बड़े उत्सव करते हैं और उन पर हजारों-लाखों खर्च कर देते है। हजारों आदमी इकट्ठे हो जाते हैं और ऐसा लगता है, मानो चेतना की बाढ़ आ गई है। मगर दो-तीन दिन में ही सारी धूमधाम समाप्त हो जाती है, बाढ़ उतर जाती है और समाज ज्यों-का-त्यों निस्तेज हो जाता है। ऐसा मालूम होता है, मानो कुछ भी नहीं हुआ। बहुत बड़ा मेला लगा, हजारों की भीड़ हुई, धूमधाम मची, किन्तु मेले का दिन समाप्त हुआ कि मैदान फिर जंगल का जंगल है। वह सुनसान नजर आता है। कभी-कभी तो आदमियों के चले जाने के बाद और भी ज्यादा गहरा सन्नाटा मालूम होता है।

हमारे जीवन की भी ठीक यही स्थिति है। जब हम बाहर में रोशनी देते हैं, किन्तु अन्दर में जीवन का निर्माण नहीं कर पाते हैं, तो यही स्थिति पैदा हो जाती है। बाहर में दो-चार दिन खूब उत्सव मनाते हैं, धूमधाम होती है, वरघोड़े निकाले जाते हैं, साहित्य भी प्रकाशित होकर बाहर आ रहा है, किन्तु अन्दर में चमक नहीं आ रही है और वे उत्सव फीके नजर आ रहे हैं।

तो, सिद्धान्त के नाते, सबसे बड़ी पुस्तक और शास्त्र जीवन की पुस्तक है। यदि उसे अच्छी तरह नहीं पढ़ा है और नहीं जाँचा है, तो मैं समझता हूँ कि बाहर में संसार का जो विश्लेषण है, वह अन्दर की प्रगति में कुछ भी सहायक नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज का जीवन खोखला होता चला जा रहा है।

किसी आदमी के पास एक ऐसी लाठी है, जो घुन लग जाने के कारण अन्दर से खोखली हो गई है। बाहर से उस पर सुन्दर रंग-रोगन और पालिश कर दिया गया है। परन्तु, यदि कोई दुर्घटना हो जाती है, तो क्या वह अन्दर से खोखली लाठी आत्म-रक्षा करने में मदद दे सकेगी? नहीं, वह तो एक ही झटके में टूक-टूक हो जायगी। लाठी की चमक और पालिश रक्षा नहीं कर सकेगी।

इससे विपरीत, दूसरी लाठी है, जिस पर रंग-रोगन वगैरह की चमक नहीं है, परन्तु अन्दर से ठीक और मजबूत है। वह आत्म-रक्षा करने में सहायक हो सकती है।

हमारा चरित्र-बल भी ठीक इसी प्रकार का होना चाहिए; ताकि वह हमारे जीवन की गति-प्रगति बराबर बनाये रखे।

❁ ❁ ❁

जैनधर्म की चुनौती

क्या आप कभी सोचते हैं कि देवी-देवताओं के नाम पर भारतवर्ष की जो जन-धन की शक्ति बर्बाद हो रही है, उससे देश का कोई कल्याण होता है? वह धन-राशि मिट्टी में सड़-सड़ कर विनष्ट हो रही है। उसका विवेक-पूर्वक उपयोग किया जाता, तो देश की गरीबी दूर होने में मदद मिलती। मगर यह बात लोगों की समझ में नहीं आती; क्योंकि मन्दिरों में जो चढ़ाया जाता है; उससे कई गुना पाने की आशा होती है। अगर देवी का एक मन्दिर बना दिया, तो समझ लिया जाता है कि स्वर्ग में महल मिल जाएगा। इस स्वार्थ और प्रलोभन की भावना ने भारतीय जीवन को न प्रफुल्लित किया और न ठीक ढंग से विकसित ही होने दिया।

यह सारा चक्र आतंक, प्रलोभन या भय के कारण चल रहा है। किन्तु जैन-धर्म सब से पहले इसी भय पर चोट करने आया है। वह कहता है "अरे मनुष्य! तुम डरते क्यों हो? धन चला जायगा, दुर्घटना हो जायगी अथवा मृत्यु हो जायगी; इस प्रकार की दीनता को अपने अन्तःकरण में क्यों स्थान देते हो? जीवन में जो चीजें होने वाली हैं, उन्हें कोई नहीं रोक सकता। और जो नहीं होने वाली हैं, संसार की कोई भी ताकत उन्हें नहीं कर सकती। जैन-धर्म

स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर रहा है:—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

तू ने जो भी शुभ या अशुभ कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल तू भोग रहा है और जैसे कर्म करेगा, वैसा फल आगे भोगना पड़ेगा। दूसरे का दिया भुगतना पड़े, तो अपने निज के कर्म क्या निष्फल हो जाएँगे? नहीं। जो कुछ भी होने वाला है, अपने ही प्रयत्न से होने वाला है, इसलिए तू अपने पर ही भरोसा रख कर प्रयत्न कर।

कोई भी मनुष्य या देवता किसी के भाग्य को नहीं पलट सकता। जैनधर्म तो इन्द्र को भी चुनौती देता रहा है कि जो होने वाला है, तो तू कुछ कर सकेगा और जो नहीं होने वाला है, तो तू भी कुछ नहीं कर सकता। मगर इन्द्र और यहाँ तक कि ईश्वर को भी दी हुई चुनौतियाँ आज मिट्टी में मिल रही हैं और जैनधर्म के अनुयायी भी आज आतंकित और भयभीत होकर पत्थरों से सिर टकराते फिर रहे हैं।

कहाँ तो जैनधर्म का यह आदर्श कि तू स्वयं अपने भविष्य का निर्माता है, तेरे भविष्य का निर्माण करने में कोई भी दूसरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती, और कहाँ

आज के जैन-समाज की हीन मनोदशा ! शास्त्र घोषणा करता है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

—उत्तराध्ययन

आत्मा स्वयं ही अपने दुःख-सुख का सर्जन करता है, और स्वयं ही उनका विनाश कर सकता है। आत्मा स्वयं ही अपने भविष्य को बनाता और बिगाड़ता है। उसके भाग्य के बहीखाते पर दूसरा कोई भी हस्ताक्षर करने वाला नहीं है। जैनधर्म का यह उच्च और भव्य सन्देश है।

जिस जैनधर्म की इतनी ऊँची दृष्टि रही है और इतना ऊँचा इतिहास रहा है, उसी धर्म को मानने वाले जब अन्ध-विश्वास में फँस जाते हैं और गंडे-तावीज में विश्वास करने लगते हैं, और उनके लिए इधर-उधर मारे-मारे भटकते हैं, तो खेद और विस्मय की सीमा नहीं रहती।

जब इन सब चीजों को देखते हैं, तो पता चलता है कि यह सब क्या है ? भगवान् महावीर का कदम किधर पड़ा था और हमारा कदम किधर पड़ रहा है ? ऐसा मालूम होता है कि पूर्व और पश्चिम का अन्तर पड़ गया है।

हजारों की संख्या में यह देवी-देवता इस देश पर छाए हुए हैं। इनके मन्दिर न जाने कितनी बार बने और बिगड़े, और न जाने कितनी बड़ी धन-राशि उन पर व्यय हुई है। किन्तु, वे कुछ भी काम नहीं आ रहे हैं। अनगिनत पीर और

पैगम्बर हैं। देश पर महान् संकट आये, माताओं और बहनों की बेइज्जती हुई, हजारों का कत्ल हुआ, देश का अङ्ग-भङ्ग हुआ, मगर इन देवी-देवताओं के कान पर जूँ तक न रेंगी; किसी ने करवट तक भी न बदली। आखिर, यह सब किस काम के हैं?

जैन-धर्म देवी-देवताओं के अस्तित्व से इंकार नहीं करता, पर जिस रूप में जन-साधारण में इनकी मान्यता हो रही है और जिस रूप लोगों में इनके प्रति अन्ध-विश्वास जमा हुआ है, वैसा रूप कहीं किसी शास्त्र में नहीं है।

* * *

कर्म से उच्चता

मैं पूछना चाहता हूँ कि मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता है या कर्म से ऊँचा-नीचा होता है? अगर कोई जन्म से ऊँचा होता है, तो रावण जैन-दृष्टि से क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था। इस लिहाज से उसमें जन्म-जात, पवित्रता और उच्चता थी; फिर भी उसे घृणा क्यों मिली? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक लेखक रावण के प्रति क्यों घृणा व्यक्त करता आ रहा है? अभिप्राय यह है कि जन्म से कोई ऊँचाई नहीं आती। जो भी कर्म गलत मालूम होता है, भारतीय इतिहास उस कर्म की निन्दा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने में

संकोच नहीं करता। इतिहास ने नहीं देखा कि रावण क्षत्रिय था या ब्राह्मण था ? उसका क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व आगे नहीं आया, किन्तु कर्म आगे आया।

अब दूसरी ओर देखिए। वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में भील और लुटेरे थे। उन्होंने दूसरों को मारना और फिर उनकी जेब टटोलना ही सीखा था। उनके सामने जीवन का दूसरा रास्ता नहीं था और उनके हाथ खून से रँगे रहते थे। किन्तु, जब जीवन की पवित्र राह मिली और उस पर उन्होंने चलना शुरू किया, तो भारत इतना बड़ा भारत है कि उसने उन्हें ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सन्तों में उन्हें आदर का स्थान मिला।

जैनधर्म के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हें पग-पग पर घृणा मिली। वे जहाँ कहीं गये, विष के प्यालों के सिवाय कहीं अमृत का प्याला नहीं मिला। मगर जब वह जीवन की पवित्रता के मार्ग पर आये, तो वन्दनीय और पूजनीय हो गये। देवताओं ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया और ब्राह्मणों ने उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा क्या आप से छिपी हुई है ? घोर नर-हत्या करने वाला और खूँख्वार बना हुआ अर्जुनमाली मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है। भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते हैं और वह जीवन

की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता है? यह विशेषता जन्म की नहीं, कर्म की ही थी।

* * *

भक्ति और विवेक

भक्ति में भी विवेक रखना चाहिए। भक्ति का बड़ा महत्त्व है, और इतना बड़ा कि भक्ति है, तो सब-कुछ है और भक्ति नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। भक्ति अङ्क के स्थान पर है। अङ्क है, तो बिन्दुओं का भी महत्त्व है, और अङ्क नहीं, तो बिन्दुओं का कोई महत्त्व नहीं। परन्तु, भक्ति विवेक-शून्य नहीं होनी चाहिए। भक्ति के मार्ग में से जहाँ विवेक को हटा दिया गया, वहाँ भक्ति बड़ी विद्रूप हो गई। विवेक के अभाव में, अन्धभक्ति ने लोगों को कहाँ से कहाँ भटका दिया है?

एक मुसलमान भक्ति के नाते, अपने खुदा के नाम पर गाय या बकरे की कुर्बानी कर देता है। आप ऐसा करते देख कर घबरा उठते हैं और उससे कहते हैं—"कुर्बानी क्यों करते हो?" वह कहता है—"खुदा की इबादत करता हूँ।"

क्या आप उसकी बात मानने को तैयार हो जाएँगे? कभी नहीं। आप कहेंगे—"यह खुदा की पूजा नहीं है।

किसी का खून बहा कर खुदा की इबादत नहीं हो सकती, भक्ति नहीं हो सकती। गाय का रक्त बहा कर तुम जो भक्ति कर रहे हो, वह सच्ची भक्ति नहीं है। भक्ति करना है, कुर्बानी करनी है, तो अपनी वासनाओं की कुर्बानी करो; भैंस, गाय या बकरे की कुर्बानी करने से क्या होगा ?"

जब यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी, तो भगवान् महावीर ने क्या कहा था ? उन्होंने यही तो कहा था कि "सच्ची भक्ति का मार्ग यह नहीं है। दूसरे की हिंसा करके, खून बहा कर भक्ति नहीं हो सकती। और यदि ऐसा किया जाएगा, तो उससे जीवन का उत्थान नहीं होगा। यह तो डूबने का मार्ग है, तिरने का मार्ग नहीं है। कोई भी भगवान् ऐसे भक्त का आदर नहीं करेगा।"

किसी का पिता घूम कर आया। वह पसीने से तर है, और गर्मी से घबराया हुआ है। इतने में उसका पुत्र वहाँ आया। उसने पिता की हवा करने के लिए इधर-उधर पंखा देखा। जब पास में कुछ दिखाई न दिया, तो पिता की भक्ति में बहने वाले पुत्र ने अपना जूता उठाया और उसी से हवा करने लगा। देखने वाला व्यक्ति पूछे—'अरे, यह क्या कर रहा है ?

'पिता की सेवा कर रहा हूँ साहब, भक्ति कर रहा हूँ।'

आप इस पितृ-भक्त पुत्र के विषय में क्या कहते हैं ?

और उसका पिता क्या कहेगा ? क्या इस भक्ति में रस है ? क्या पिता के मन में पुत्र की इस भक्ति से आनन्द की लहर उठेगी ?

भक्ति की जाय, पर भक्ति के साधनों में विवेक तो होना चाहिए ! पंखा किया जाता,तो भक्ति समझ में आती, परन्तु जो चार कदम चल कर पंखा नहीं ला सका और पास में पड़े जूते से हवा करने लगा, उस पुत्र की भक्ति सच्ची भक्ति नहीं समझी जा सकती।

तुम्हें भगवत्-पूजा का मार्ग अपनाना है, तो बाहर के फूलों को रहने दो। जो फूल अभी-अभी अपनी कलियों में खिले हैं और सूर्य की पहली किरण में ही सो कर उठे हैं; उनकी गर्दन मत तोड़ो। उनको छुओ मत। उनमें भी प्राण हैं, जीवन है। वे संसार को सौरभ देने के लिए आये हैं ; अतः जहाँ हैं, वहीं रहने दो। तुम्हें पूजा के लिए फूल चाहिएँ, तो वे और हैं। उन्हें अपने मन के बाग में ही कहीं खोजो और मन के मन्दिर में जो भगवान् विराजमान हैं, उन पर चढ़ा दो। उन्हें किस रूप में चढ़ाना है :—

> अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।
> गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥

यह हरिभद्र सूरि के वचन हैं। उनकी वाणी जीवन देने वाली है। वे इसी राजस्थानवर्ती पर्वतीय प्रान्त वीर-भूमि मेवाड़ के थे। उन्होंने कहा है—प्रभु के दर्शन करने के

लिए फूल तो चाहिएँ, किन्तु वे फूल कैसे हों? वे फूल अहिंसा के होने चाहिएँ, सत्य के, अस्तेय के, ब्रह्मचर्य के और अनासक्ति के पुष्प होने चाहिएँ। भक्ति की लहर पैदा होनी चाहिए। कितने ही संकट पड़ें, तो उन्हें सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। ज्ञान का और प्रेम का दीपक जलना चाहिए। यही प्रभु की पूजा के लिए श्रेष्ठ फूल है। ये वे फूल हैं, जो अनन्त काल से जीवन में महक डाल रहे हैं। यह अहिंसा सत्य, दया, ज्ञान और विवेक-विचार के भाव-पुष्प हैं। मैं प्रभु के चरणों में इस प्रकार के पुष्पों की भेंट चढ़ाता हूँ।

इस प्रकार प्रभु के चरणों में पहुँचोगे, तो तुम्हें सच्चे भक्त होने का आनन्द मिलेगा और महक मिलेगी; जिससे तुम ही आनंदित नहीं होओगे, दूसरों को भी आनन्द होगा।

तुम हाथों में क्या लेकर आए हो—मेवा, मिष्टान्न या पुष्प? भगवान् यह नहीं देखते। वे तो तुम्हारे मन को देखते हैं। मन में अहिंसा और दया की भावना है, अनासक्ति की भावना है, तो यही सब से बड़ी भेंट है। यही भेंट चढ़ाकर आप अपने जीवन को सुन्दर और सफल बना सकते हैं। हिंसा करना मुक्ति का मार्ग नहीं है, भगवद्-भक्ति का मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार जब किसी सन्त पुरुष की उपासना के लिए जाओ, तो वे जैसे हों, उनकी जो भी मर्यादाएँ हों, उनका

उसी रूप में पालन करना चाहिए।

महाभारत मैंने पढ़ा है। जब भीष्म युद्ध में लड़ते-लड़ते घायल हो जाते हैं, तो बाणों की शय्या पर लेट जाते हैं; पलंग पर नहीं, मखमल या रुई के गद्दे पर नहीं। जिस ओर झुकते हैं, उसी ओर से बाण चुभते हैं। रक्त की बूंदें बह रही हैं। चारों ओर से कौरव और पाण्डव उन्हें घेरे खड़े हैं। दुर्योधन, कर्ण और शकुनि आदि महारथी खड़े हैं। वज्र के बने उस बुड्ढे ने कभी हार नहीं खाई। वह शरीर से निरन्तर जूझता रहा और इसी कारण उसका नाम 'भीष्म' हो गया था। उसने भरी जवानी में ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर अपने पिता के लिए जबर्दस्त बलिदान किया। उसी भीष्म का जबर्दस्त चमकने वाला सूर्य आज निस्तेज हो रहा है! आज उनके जीवन का दीपक बुझ रहा है!

भीष्म ने सोचा—ये लोग अपने अहंकार के सामने किसी को कुछ नहीं समझ रहे हैं और खून की होली खेल कर ही फैसला करना चाहते हैं। एकमात्र तलवार ही इनकी सहायक है! इन्होंने यही अपना सिद्धान्त बना लिया है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने परीक्षा लेकर शिक्षा दर्शानी चाही। अपने लटकते हुए सिर को ऊँचा उठाया और कहा—"देखते क्या हो, एक तकिया लगाओ।"

भीष्म की ललकार-भरी आवाज ही निकली थी कि दुर्योधन, कर्ण आदि बढ़िया-बढ़िया मखमली और रुईदार

तकिया ले आए। किन्तु भीष्म ने कहा—"यह क्या लाए हो! यह तकिया तुम्हारे लिए होंगे; भीष्म के लिए नहीं हैं। यह तकिया लाकर तुमने भीष्म का अपमान और उपहास किया है!

फिर अर्जुन की ओर इशारा किया।

संकेत पाते ही अर्जुन ने धनुष-बाण लिया और सिर के दोनों तरफ बाण मारकर तकिया बना दिया। भीष्म ने उस पर सिर रख कर कहा—"भीष्म के लिए यही तकिया उपयुक्त है। तुम देख रहे हो कि मेरे शरीर में बाण चुभ रहे हैं, मेरी आत्मा वीर-गति की प्रतीक्षा में है, एक सच्चा क्षत्रिय युद्ध में लड़ते-लड़ते अपनी मृत्यु का आह्वान कर रहा है। तो उसके लिए बाणों की शय्या के साथ बाणों का ही तकिया भी चाहिए। कुछ क्षण रुककर भीष्म ने फिर कहा—"दुर्योधन! तुम अब भी मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हो, और अर्जुन अब भी मर्यादा के भीतर है। वह योग्य-अयोग्य को समझता है, किन्तु तुम्हारे अन्दर यह चीज मुझे नहीं मिलती। तुम्हें कब विवेक प्राप्त होगा?"

मेरा अभिप्राय यह है कि भीष्म ने तकिया माँगा, तो अर्जुन ने उनकी माँग पूरी की। दुर्योधन आदि ने जो तकिये लाकर दिये, वे मर्यादा के अनुरूप नहीं थे। बाण तो चुभने वाले ही थे, किन्तु बाणों की शय्या की मर्यादा यही है कि तकिया भी बाणों का ही हो। इसी में उस शय्या का

गौरव था। अर्जुन ने बाण-शय्या की मर्यादा को समझा और उसे पूरा भी किया।

क्या भगवान् के पास और क्या सन्त के पास जाना हो, तो देखो कि उनकी क्या-क्या मर्यादाएँ हैं। अगर उन मर्यादाओं का ठीक-ठीक पालन करोगे, तो सच्चे उपासक, पुजारी या भक्त कहला सकोगे। उनकी मर्यादाओं के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि के पुष्प लेकर उनके चरणों में पहुँचोगे, तो सच्चे भक्त बनोगे।

* * *

पवित्रता का आधार

जीवन की पवित्रता के सम्बन्ध में जैनधर्म हमें क्या प्रकाश देता है? वह जन्म से पवित्रता मानता है या कर्म से? किसी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल में जन्म ले लिया, तो क्या वह जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो गया? और क्या इतने मात्र से उसमें ऊँचापन आ गया? अथवा ब्राह्मण आदि बनने के लिए और ऊँचापन प्राप्त करने के लिए कुछ कर्त्तव्य-विशेष भी करना पड़ता है?

इन्सान जन्म लेकर आया है, तो क्या लेकर आया है? वह हड्डियों का और मांस का ढेर ही लेकर तो आया है! क्या किसी की हड्डियों पर ब्राह्मणत्व की, किसी के मांस पर क्षत्रियत्व या किसी के चेहरे पर वैश्यत्व की मोहर

लगी आई है ? या ब्राह्मण किसी और रूप में और दूसरा किसी और रूप में आया है ?

आखिर, शरीर तो शरीर ही है। वह जड़ पुद्गलों का पिण्ड है। उसमें जात-पांत का, किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नहीं है। वह मृत्-पिण्ड आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वह अपने-आप में पवित्र या अपवित्र नहीं है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता और अशुद्धता है। आचरण ज्यों-ज्यों पवित्र होता जाता है, शुद्धि बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों अपवित्र होता है, अशुद्धि बढ़ती जाती है।

यह आवाज, आज की नयी आवाज नहीं है। भारतवर्ष में जब जन्मगत उच्चता-नीचता की भावनाएँ घर बनाये बैठी थीं, तब भी कुछ विचारक यही कहते थे और तब से आज तक वे यही कहते आ रहे हैं। उक्त आचरण-मूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही यह फल हुआ कि इन्सान ने किसी भी ऊँची-नीची जाति में जन्म लिया हो; फिर भी उसने ऊँचा बनने के लिए उच्च प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मैं जन्म से ऊँचा नहीं बन गया हूँ। यदि मैं सत्प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी सामग्री को अपने-आप में ही समेट कर नहीं रक्खूँगा, किन्तु दूसरों के कल्याण में उसका उपयोग करूँगा,

तो जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सकूँगा। वह पवित्रता मेरे कर्मों द्वारा ही प्राप्त होगी, जन्म से नहीं।

यह आवाज भारत की जनता के दिलों में गूंजती रही, तो उस पवित्रता की ओर दौड़ लगती रही। जो ब्राह्मण के कुल में जन्मा था, वह भी दौड़ा और जो क्षत्रिय-कुल में पैदा हुआ था, वह भी दौड़ा। क्योंकि उसे मालूम था कि पवित्रता जन्म लेने से नहीं आएगी, उसे प्राप्त करना होगा उच्च कर्त्तव्यों द्वारा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार उस समय कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो, प्रायः सब पुरुषार्थ और मर्यादा के द्वारा पवित्रता प्राप्त करने के लिए सदाचार के पथ पर दौड़ लगाते रहे। किन्तु, दुर्भाग्य से विचार उलट गये और विचारों का प्रवाह, जो ऊँचाइयों की ओर जाता था, वह पलट गया और ऐसी धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने से पवित्रता प्राप्त हो गई और जैनकुल में जन्म लेने मात्र से ही जैनत्व मिल गया। जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का खयाल हो गया, तो फिर कौन नैतिक पवित्रता के लिए प्रयत्न करता? फिर पवित्रता के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या थी? हमारे यहाँ कहा गया है:—

अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत्?

शहद के लिए पुराने जमाने में पर्वत पर टक्करें खानी

पड़ती थीं। बहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था। उस समय के एक आचार्य कहते हैं कि यदि गाँव के बाहर खड़े हुए अकौवा (आकड़े) के पौधे की टहनियों पर शहद का छत्ता मिल जाय, तो नदी-नालों को कौन लाँघे ? पर्वतों पर जाकर कौन टक्करें खाए ?

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ किये बिना ही यदि चीज मिली सकती हो, तो फिर वह पुरुषार्थ नहीं करेगा। यह एक लोक-स्वभाव के सत्य सिद्धान्त की बात है। कोई चीज जब बिना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाय, तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है, जो उसके लिए भटकता फिरे, कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीबतें उठावे ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जब से हमने पवित्रता का नाता जन्म के साथ जोड़ दिया, तभी से हमारे ऊँचाई प्राप्त करने के प्रयत्न ढीले पड़ गए। तभी से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य गिरा है, ऊँचा नहीं उठा।

* * *

क्या अहिंसा अव्यवहार्य है ?

आज अहिंसा के सम्बन्ध में एक विकट प्रश्न अड़ा हुआ है। संसार के सामने और जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह हल न कर लें, तब तक जनता के मन का पूरी तरह

समाधान नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं, अहिंसा अपने-आप में अच्छी चीज है। अहिंसा के सिद्धान्त बहुत अच्छे हैं। समय-समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उसकी व्याख्याएँ की गई हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं और इतनी ऊँची हैं कि वास्तव में, हमें उनका आदर करना चाहिए। किन्तु जहाँ अहिंसा की लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ की गई हैं, वहीं वह अव्यवहार्य चीज भी बन गई है, अर्थात् व्यवहार में आने लायक नहीं रही है। जीवन में उतारने लायक नहीं रही है। हम उसके सहारे जीवन-यात्रा करना चाहें, तो नहीं कर सकते हैं।

बात अच्छी है, किन्तु काम आने लायक नहीं है, तो उसका मूल्य क्या है ? अहिंसा अगर जीवन में उतारने लायक नहीं है, उसके सहारे हम जीवन-यात्रा नहीं कर सकते हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि वह रद्दी चीज है, अयोग्य है और जीवन में उसका कोई मूल्य नहीं है।

इस प्रकार के प्रश्न साधारण लोगों के सामने और विचारकों के सामने भी उठा करते हैं। अब हमें देखना है कि क्या वस्तुतः ऐसी ही बात है ? अहिंसा क्या सचमुच ही व्यवहार में आने लायक नहीं है ? अगर हृदय की सचाई से विचार किया जाय और भारत के सुनहरे इतिहास पर नजर डाली जाय, तो पता चलेगा कि यह खयाल सही नहीं है। जो चीज व्यवहार में लगातार कई सदियों तक

आती रही है, जिसे भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों ने, गौतम जैसे सन्तों ने और आनन्द जैसे गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता गांधी जी ने भी जीवन में उतार कर दिखा दी है; उसकी व्यवहार्यता में आज शंका करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? एक नहीं हजारों साधकों ने, जो अहिंसा की संताप-शमिनी छाया में आये, उन्होंने यही कहा कि वह व्यवहार की चीज है। जिन्होंने अहिंसा का व्यवहार अपने जीवन में किया, उन्हें तो वह अव्यवहार्य नहीं लगी, मगर जिन्होंने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसा की छाया में नहीं विताया, वे अपने तर्क के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते हैं ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

अहिंसा के विना हमारे जीवन का एक कदम भी तो आगे नहीं बढ़ सकता। इन्सान अगर इन्सान बन कर आगे बढ़ना चाहता है, तो अहिंसा के विना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। मनुष्य यदि जीवन के एक-एक कदम पर दूसरों का खून बहाता हुआ और और संहारक संघर्ष करता हुआ चलता है, तो वह मनुष्य की गति नहीं है। वह सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है। आदमी और राक्षसों के चलने में दिन-रात का अन्तर है। वह अन्तर भूतल पर के हर मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

अतिवाद को तोड़ए

जैनधर्म समन्वयवादी है, एकान्तवादी नहीं है। अगर तप करें, इतना करें कि चाहे शरीर मरे, चाहे रहे या न रहे, उस पर बलात्कार करते ही चले जाएँ और यहाँ तक कि एक दिन उसे समाप्त करदें, यह आदर्श जैनधर्म का नहीं है।

इसी प्रकार यह भी आदर्श नहीं है कि कुछ भी नहीं करना और केवल मौज-मजे करना और इस प्रकार जीवन भोग-विलास में डालते जाना यह भी एक अतिवाद है।

तो दोनों जीवनों के बीच की सीमा में हमें मीटर रखना है। न इधर अति कीजिए, न उधर अति कीजिए। एक ओर तो वे लोग हैं, जो भोग-विलास में अति कर रहे हैं। सुबह देर से उठते हैं, खाने के लिए आवाज लगाते हैं और रात को सोने के आखिरी घंटे तक भी कुछ-न-कुछ पेट में उँडेलते रहते हैं। दिन-भर बैल की तरह, जानवर की तरह चरते रहते हैं और रात की नींद के बाद जब जागें, तो फिर वही हाहाकार है खाने का। समय पड़ने पर घंटे-दो-घंटे की देर भी बरदाश्त नहीं कर सकते। जरा इधर-उधर किसी के यहां महमान बनकर जायँ और महमानदारी में जरा-सी भी देर हो जाय, जरा-सा भी फरक इधर-उधर डाल दीजिए उनकी महमानदारी में, तो वहाँ भी गड़बड़ा

जावें। इस तरह जिनका जीवन निरंकुश है, संयमी नहीं है, खाने और पीने में ही महदूद हो गया है। संसार में पेट भरना और सांस लेना ही इस जीवन का जो लक्ष्य समझ कर चल रहे हैं, तो जैन-धर्म कह रहा है कि इस प्रकार का भोग-विलास वाला यह अतिवाद का जीवन है। साधक को इस चीज पर नियन्त्रण रखना है।

दूसरी तरफ, जो तपस्वी लोग हैं, भगवान् पार्श्वनाथ के युग के वे योगी, जो घोर तपस्या के द्वारा अपने शरीर से लड़-लड़कर जीवन की पवित्रता को, जीवन के आनन्द और उल्लास को तो प्राप्त नहीं कर सके; पर यह समझ बैठे कि शरीर से ही लड़ना है, और यही तप का लक्ष्य है। वे अपने-आप को समाप्त करने में लग गये, तो भगवान् महावीर ने कहा कि यह भी गलत रास्ता है। यह भी सही रास्ता नहीं है जीवन का।

दोनों में समन्वय करके चलना चाहिए और जब दोनों का समन्वय होता है, तो भोग विलास की अति अपने आप टूट जाती है और कठोर बाह्य तप की अति भी टूट जाती है।

मानव-जीवन का मार्ग निवृत्ति, त्याग और भोग इन दो जीवनों के बीच में से रहा है। ऐसी हालत में तुम्हारे जीवन में पवित्रता भी आनी चाहिए, तुम्हारे अन्दर संसार की वासनाओं को ठुकराने की क्षमता भी चाहिए, भोग से

लड़ने की तैयारी भी चाहिए और साथ-ही-साथ समय पड़ने पर कर्म भी, पुरुषार्थ भी करना चाहिए।

हमारे सामने एक महान् संत की वाणी है। उस संत से पूछा गया—"जीवन में कैसे रहा जाय? हम जब जीवन की यात्रा शुरू करते हैं, तो इधर चलें कि उधर चलें,? त्याग मार्ग पर चलें और निरंतर त्याग-तपस्या में हम अपने जीवन को होमते चलें कि इस संसार में रहकर खाने-पीने और मौज-मजा करने को ही इस जीवन का परम लक्ष्य मानकर चलें,? किधर जाएँ?"

संत ने एक सुन्दर उदाहरण दिया और कहा :"तुम वीणा बजाते हो न? जानते हो यह कैसे बजती है? अगर वीणा के तारों को इतने जोर से कस दिया जाय कि उनके अन्दर लोच न रहे और उस हालत में कोई वीणा बजाने बैठे, तो स्वर निकलेगा क्या? कोई माधुर्य और मिठास की आवाज आवेगी उसमें? लोच न रहने के कारण और उन तारों को अत्यन्त कस देने के कारण कोई भी स्वर उसमें से नहीं निकलेगा। वीणा के तार एकदम ढीले कर दिये जायँ, तो भी उनमें से स्वर नहीं निकलेगा; क्योंकि वे तार इतने ढीले कर दिये गये हैं कि स्वर उनमें से नहीं फूटेगा।

उन्होंने कहा "फिर स्वर कब निकलेगा? स्वर निकलने के लिए तार कसे हुए भी होने चाहिएँ और साथ ही तार ढीले भी रहने चाहिएँ।

यही बात इस जीवन में भी ठीक बैठती है। जीवन में भी जीवन के तारों को कसना भी जरूरी है, लेकिन कसने की सीमा है। इसी प्रकार से तारों को ढीला रखने की भी जरूरत है, लोच के लिए, लेकिन ढीला रखने की भी एक सीमा है। न तो कसने में अति करें और न उनको ढीला रखने में अति करें। इस हालत में वीणा का स्वर बजाना चाहेंगे, तो बज जायगा।

इसलिए कहा है कि जीवन भी एक वीणा है, और वह वीणा की झनकार हमें अपने जीवन में पैदा करनी है। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं, जो जीवन को कस लेते हैं, और इतना कस लेते हैं कि उसके अन्दर कोई लोच नहीं रह जाता। इस प्रकार उस जीवन की वीणा के स्वर बजने बन्द हो जाते हैं। कुछ लोग भोग और विलास में इतने फंसे होते हैं कि इस जीवन की वीणा को इतना ढीला कर देते हैं, कि शरीर लड़खड़ा जाता है और वह लथड़ा हुआ जीवन गलत जीवन बन जाता है। इसमें से भी जीवन का राग फूटता नहीं है, जीवन की वीणा के स्वर बजते नहीं हैं। वह भी किसी काम का जीवन नहीं रहता है।

अगर इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में समन्वय कर देते हैं, अन्तरंग और बाह्य तप में समन्वय कर देते हैं, तो जीवन की वीणा के स्वर ठीक ढंग से बज सकते हैं।

*　　*　　*

वीतराग के ये पुजारी !

वीतराग देव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे न तो हमारी स्तुति से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा करने से नाराज होते हैं। वे पूर्ण रूप से मध्यस्थ होते हैं। उनकी मध्यस्थता चरम सीमा पर पहुँची होती है। एक ओर गौतम जैसे विनीत शिष्य हजार-हजार वन्दन करते हैं, तो भी उनका मन प्रसन्न नहीं हुआ और दूसरी तरफ गोशाला तेजो-लेश्या फैंक रहा है और तिरस्कार कर रहा है, तो भी उनके अन्तरंग ने क्रोध की जरा-सी भी चिनगारी नहीं पकड़ी। उन्होंने अपने विरोधियों के प्रति भी अनुकम्पा की, वही अखण्ड शीतल धारा बहाई और अपने भक्तों एवं अनुयायियों के प्रति भी दया का अजस्र प्रवाहित होने वाला स्रोत बहाया।

जो महान् पुरुष वीतरागता की इस उच्चतम भूमिका पर पहुँचे और समभाव की लहर में इतने ऊँचे उठे, वे अब मोक्ष में हैं! परन्तु आज उनके अनुयायी होने का दम भरने वाले, उनके चरण-चिन्हों पर चलने का दावा करने वाले लोगों की क्या स्थिति है? वे आज कभी महावीर जी जाते हैं, भगवान् महावीर से बेटे-पोते मांगने के लिए। कभी पद्मपुरी जाते हैं, पद्मप्रभु से भूत-प्रेत निकलवाने के लिए। उनके जीवन में न जाने कितने खटराग चल रहे हैं। वीतराग के आदर्श

आज पीछे रह गये हैं, वीतराग के उपदेशों को सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है !

जैनधर्म ने जिन अन्ध-विश्वासों का प्रबल शक्ति के साथ विरोध किया था, जिन लोक-मूढ़ताओं के विरुद्ध बगावत की थी और जिन भ्रान्तिमय कुसंस्कारों की जड़ों में तर्क का मट्ठा डाला था और जिन चीजों से जैन समाज ने टक्कर ली थी, वह जैन समाज आज उन सबका शिकार हो रहा है। वे भी आज भगवान् के दरबार में भूत निकालने की भावना में पड़े हुए हैं।

तो, जैनधर्म विचार करता है कि आखिरकार ये चीजें कहाँ से आई हैं ? हमारी फिलॉसफी के साथ तो इनका कोई मेल नहीं बैठता। फिर यह चीजें आज कहाँ से पनप रही हैं समाज के अन्दर ? बुद्धि पर थोड़ा जोर देने से स्पष्ट हो जायगा कि यह सब अंधेरा हमारे अन्दर पड़ौसियों से आया है, जिसे हमने आज अपना समझ कर छाती से चिपटा लिया है।

* * *

जीवन और नैतिकता

१. मानव और दानव
२. मधुरता भी बांटिए
३. इन्सान को इन्सान से खतरा
४. सिनेमा और अनैतिकता
५. फूल और कांटे

जीवन और नैतिकता

आज श्रावकपन भी एक साधारण-सी वस्तु बन गई है—जैसे नकली मोती, नकली सोना, नकली दूध, घी, चावल, आदि के आविष्कार ने इन वस्तुओं की असलियत को भुला-सा दिया है; उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी नकली सम्यक्त्व और नकली श्रावकत्व ने असलियत को हमारी आँखों से ओझल कर दिया है। जैसे ब्राह्मण आदि वर्ण कर्म पर निर्भर थे, किन्तु धीरे-धीरे उनका संबंध जन्म के साथ जुड़ गया और कर्म चाहे चाण्डाल के ही क्यों न हों, ब्राह्मण की सन्तान होने से ही व्यक्ति ब्राह्मण माना जाने लगा है; उसी प्रकार शुद्ध समीचीन दृष्टि का उन्मेष हुए बिना ही और श्रावक के वास्तविक गुणों का विकास हुए बिना ही आज जैन-परिवार में जन्म लेने से ही मनुष्य सम्यग्दृष्टि एवं 'श्रावक' कहलाने लगता है! इस प्रकार जब अनायास ही सम्यग्दृष्टि और श्रावक की उपाधियां मिल सकती हों, तो कौन उनके लिए मँहगा मूल्य चुकाने का प्रयत्न करेगा?

जैन-शास्त्रों में श्रावक का दर्जा बहुत ऊँचा माना गया है। उस दर्जे को प्राप्त करने से पहले अनेक सद्गुण प्राप्त करने पड़ते हैं। उन सद्गुणों को हमारे यहाँ विभिन्न शब्दों में बतलाया गया है। वे मार्गानुसारी के पैंतीस गुण

कहलाते हैं। जैन-साहित्य में इन गुणों का अच्छा खासा विवरण मिलता है। अपने व्यावहारिक जीवन में उन गुणों को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही सच्चा श्रावक कहलाने का अधिकारी होता है।

खेत में बीज बोने से पहले उसे जोत कर योग्य बनाया जाता है। उसमें पानी का सिंचन भी किया जाता है। तभी उसमें से लहलहाते अँकुर निकलते हैं और धान्य का समुचित परिपाक होता है। यही बात जीवन में धार्मिकता के अँकुर उगाने के सम्बन्ध में भी है। जीवन को धर्ममय बनाने से पहले नीतिमय बनाना अनिवार्य है। नैतिकता के अभाव में धार्मिकता का प्रदर्शन किया जा सकता है, धार्मिकता प्राप्त नहीं की जा सकती।

* * *

मानव और दानव

आपको मानव बनना है या दानव बनना है? जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता में से किसी एक को चुन लेने का सवाल खड़ा होता है, तो अहिंसा सामने आकर खड़ी हो जाती है। अनन्त-अनन्त काल से यह संकल्प ही मन में उत्पन्न नहीं हुआ। अनादि काल से प्राणी दानवता के कुपथ पर भटक रहा है और कहीं-कहीं तो दानवता के आवेश में इतनी हिंसा की कि जमीन को निरीह

प्राणियों के खून से तर कर दिया। फिर भी उसे यह संकल्प नहीं आया कि मैं मानव बनूँ या दानव बनूँ ? यह जीव एक दिन उस अवस्था में भी पड़ गया कि बाहर से जरा भी हिंसा नहीं की, उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा में कि जहाँ अपना रक्षण करना भी अपने लिए मुश्किल हो गया। वहाँ तो यह संकल्प आता ही क्या कि मुझे मानव बनना है या दानव ? राक्षस बनना है या इन्सान ? संसार-चक्र में भटकता हुआ यह प्राणी किस-किस गति एवं स्थिति में नहीं रहा है ? इस असीम संसार में जितनी भी गतियाँ, स्थितियाँ और योनियाँ हैं, उन सब में एक-एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार यह गया, रहा। मगर किसी भी स्थिति में यह संकल्प नहीं जागा कि मुझे बनना क्या है—मानव या दानव ? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि मुझे क्या बनना है, उसी समय अहिंसा सामने आती है और कहती है—तुझे इन्सान बनना है, तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणों की पूजा कर, मेरे चरणों पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के महान् साँचे में ढालना है और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना है, तो समझ ले कि अहिंसा के बिना मानव, मानव नहीं बन सकता। इस मिट्टी के ढेर को अनन्त-अनन्त बार लिया और छोड़ दिया। इसके लेने और छोड़ देने से मानवता नहीं

आती। जब अहिंसा के भाव जागेंगे, प्रेम के भाव जागेंगे, अपने ही समान दूसरों की जिन्दगी को समझने की विश्व-चेतना जागेगी, अखिल विश्व में इन्सानियत की पवित्र भावना भरेगा; तभी सच्चे अर्थों में इन्सानियत आयगी। और जितना जितना अहिंसा का विराट रूप जागता जायगा, जीवन में उतारता जायगा, उतनी ही तेरे भीतर भगवत् तथा ईश्वरीय ज्योति जागती जायगी। जब भी कभी भगवत्-चेतना जागेगी, तभी यह दुष्कर्म और पाप जो तुझे सब ओर से घेरे खड़े हैं, झटपट भाग खड़े होंगे।

मानव! जिस दिन, जिस घड़ी, तू अपने-आप में जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है, वही जीने का अधिकार सहज भाव से दूसरों के लिए भी देगा, तेरे अन्दर दूसरों के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी, दूसरों की जिन्दगियों को अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और संसार के सब प्राणी तेरी भावना में तेरी अपनी आत्मा के समान बनने लगेंगे और सारे संसार को समान दृष्टि से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक से देखेगा कि यह सब प्राणी मेरे ही समान हैं, मुझ में और इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जो चीज मुझे प्यारी है, वह दूसरों को भी प्यारी और पसन्द है; तभी समझना कि मेरे अन्दर मानवता बोल रही है। जब तक तेरा यह हाल है कि 'मेरे लगी सो दिल में और दूसरों को लगी सो दीवार में' यानी चोट

लगने पर दर्द मुझे ही होता है, दूसरों को नहीं होता, तब तक जीवन में मानवता नहीं आ सकती। पक्का समझ ले कि जब तेरे मन को, तेरी भावना को चोट लगती है और दर्द से घबराने लगता है, तो दूसरों को भी दर्द से पीड़ा होती है। इस प्रकार दूसरों के दर्द की अनुभूति जब तेरे दिल में अपने दर्द की तरह होने लगे, तो समझ लेना तू दानव नहीं, मानव बन रहा है।

० ० ०

मधुरता भी बांटिए

जीवन में अन्न, जल, वस्त्र, पात्र आदि के दान का भी महत्त्व कम नहीं है, परन्तु वर्तमान युग में सबसे बड़ी आवश्यकता है, माधुर्य के दान की। इक्षु-रस तो मुँह में रहे तभी मिठास दे सकता है, और क्षणिक शक्ति भी दे सकता है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। किन्तु माधुर्य का दान जीवन में जहाँ आत्मिक शक्ति पैदा करता है, वहाँ बाहरी जीवन को भी अनेक कटु प्रसंगों से बचा लेता है। जीवन को रूक्ष होने से बचा कर माधुर्य-मय बना देता है। आज के युग के दैत्याकार यन्त्र प्रति दिन लाखों टन शक्कर पैदा करते हैं, फिर भी इन्सान की जिन्दगी मीठी नहीं बनी। हजारों-लाखों मन शक्कर खा कर भी आज का मानव कटुता, विषमता और वैमनस्य

की वृद्धि करता ही जा रहा है। इसका एक ही कारण है कि हमारे जीवन में माधुर्य का अभाव है। और यह अभाव एक ऐसा अभाव है कि जब तक इसका सद्भाव न होगा, जब तक इसकी पूर्ति न होगी, तब तक मानव-समाज, सुख और शान्ति पा सकेगा—यह आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी।

मनुष्य का यह परम कर्तव्य है कि वह दान के साथ सत्संल्प का दान भी देना सीखे, जीवन में माधुर्य का दान भी देना न भूले। परिवार में, समाज में, राष्ट्र में-वह जहाँ कहीं भी हो, सबको समभाव से देखना सीखे। साधु हो या गृहस्थ हो, स्त्री हो या पुरुष हो, छोटा हो या बड़ा हो, अपना हो या पराया हो, सब के मानस में समान भाव से माधुर्य का अर्पण करता रहे। उसके मन से, वचन से और व्यवहार से सदा माधुर्य-भाव की वर्षा होती रहनी चाहिए। उसे यह भली भांति विचार कर लेना चाहिए कि उसकी भावना का माधुर्य, केवल साधु के पात्र में ही न पड़ता रहे, बल्कि घर में, परिवार में समाज और देश में सब की थाली में भी पड़ता रहना चाहिए।

अन्त में, मैं इतना ही कहूँगा कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रतिदिन प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि "प्रभो! हम सच्चे अर्थों में माधुर्य भाव के उपासक बन सकें, अपने अन्तःकरण, वाणी और कर्म से संसार में माधुर्य की वर्षा

करते रहें। समाज और राष्ट्र में तथा परिवार में निरन्तर माधुर्य भाव की अभिवृद्धि करते रहें। हम अपने प्रत्येक कर्म को मधुरता से प्रारम्भ करें, उसे मधुरता से करते रहें और मधुरता से ही समाप्त करें। 'मधुरेण समापयेत्' के सुन्दर सिद्धान्त को हम कभी न भूल सकें। यदि आप लोगों ने इतना कर लिया, तो आपका वर्तमान जीवन तो माधुर्यमय बनेगा ही, पर आपका भविष्य भी समुज्ज्वल और शानदार बनेगा।

* * *

इन्सान को इन्सान से खतरा

आज सारे संसार में संघर्ष चल रहा है, एक इन्सान है, तो उसका भी मन अस्त-व्यस्त है और यदि परिवार में दस-बीस आदमी हैं, तो वे भी बेचैन हैं। सारे देश में, समाज में और छोटी या बड़ी प्रजा में चारों ओर संघर्ष है। व्यक्ति-व्यक्ति के मन में आग लग रही है और सब बीमार बन गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र बीमारी का अनुभव कर रहा है। प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है? इन्सान के ऊपर जो दुःख और संकट आ पड़ा है, वह आया कहाँ से है? जैनधर्म निर्णय करता है कि प्रकृति की तरफ से यह दुःख नहीं आ रहे हैं। प्रकृति की ओर से

आने वाले दुःख कादाचित्क और अल्प हैं। कभी-कभी भूकम्प आ जाता है, तो मनुष्य गड़बड़ा जाता है। वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड़ जाता है, तो भी मनुष्य गड़बड़ में पड़ जाता है; परन्तु वह गड़बड़ाहट मामूली है। प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नहीं होती हैं और ऐसी दुर्घटनाओं के समय भी यदि इन्सान, इन्सान का दिल लेकर इन्सान के पास पहुँच जाते हैं, तो प्रकृति-जनित दुःख भी कम हो जाता है। इन्सान के ऊपर कभी-कभी जंगली जानवरों के द्वारा भी दुःख आ पड़ते हैं। कभी लकड़बाघ बच्चे को उठा कर ले गया या भेड़िया भेड़ को ले गया। परन्तु आज-कल यह सारे उपद्रव भी, जो जंगली जानवरों द्वारा होते रहे हैं, प्रायः नहीं हो रहे हैं; क्योंकि नगर बस गये हैं और व्यवस्था ठीक-ठीक चल रही है और जंगली जानवर जंगलों में अपना मुँह छिपाये पड़े हैं। फिर भी आज मनुष्य दुःखों से पीड़ित क्यों हो रहा है?

मनुष्य-समाज के दुःखों का प्रधान कारण मनुष्य ही है। आज मनुष्य-समाज में ही लकड़बाघ पैदा हो गये हैं। चारों ओर भेड़िये ही भेड़िये नजर आते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य का है, मगर दिल मनुष्य का नहीं, भेड़िया का है। मनुष्य में मनुष्योचित भावना नहीं रही है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य के भीतर जो क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाएँ हैं, वे गृहस्थ-जीवन को भी विगाड़ रही हैं, साधु-

समाज को भी विगाड़ रही हैं, और समाज एवं राष्ट्र को भी विगाड़ रही हैं। मनुष्य को मनुष्य-कृत दुःख ही प्रायः सता रहे हैं।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी बैठ कर आपस में बातें करते हैं और कभी किसी से उसके दुःख की बात पूछते हैं, तो आपको क्या मालूम होता है ? अपने विचारों की तराजू पर तोल कर देखिए कि प्रकृति-जन्य और हिंसक पशुओं द्वारा होने वाले दुःख उनमें से कितने हैं ? और मनुष्य द्वारा पैदा किए हुए दुःख कितने हैं ? समझते देर नहीं लगेगी कि मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकांश विपत्तियाँ लादता है और दुःख ढाहता है। कोई कहता है, अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! एक वहिन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नहीं है और सास कहती है कि मेरे साथ वहू का वरताव अच्छा नहीं है। इसी प्रकार पिता,पुत्र के सम्बन्ध में और पुत्र, पिता के सम्बन्ध में शिकायत करता है, और भाई-भाई के व्यवहार का रोना रोता है। इस प्रकार सौ आदमियों से बातें करने के बाद यही मालूम पड़ेगा कि आदमी को आदमी से जितनी शिकायत है, उतनी कुदरत से नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो व्यवहार है, वह सन्तोषजनक नहीं है, शान्तिकारक नहीं है। बल्कि असन्तोष, अशान्ति और दुःख पैदा करने वाला

है। राम को चौदह वर्ष का वनवास क्यों भोगना पड़ा? मंथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिए गए। कैकेयी की भावना खराब हो गई, गलत ढंग पैदा हुआ और तभी रामायण लिखने की आवश्यकता हुई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खड़ी की गई और आदमी के द्वारा बनाई गई। राम वन में जाकर रहे, तो वहाँ रावण सीता को उठा कर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नहीं बैठने दिया। और जब राम, रावण को जीतकर वापिस अयोध्या लौटे, तो उन्होंने सीता को वनवास दे दिया! यह सब मनुष्य का मनुष्य को दुःख देना ही तो है!

कोई कुछ भी कहता हो, मैं कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नहीं, अन्याय किया। हाँ, यदि राम स्वयं भी सीता को पतित समझते होते, तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था; मगर उन्हें तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी, उन्होंने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जंगल में छोड़ दिया! जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नहीं झुके, वे एक धोबी, तम्बोली के सामने झुक कर इतिहास की बहुत बड़ी भूल कर बैठे! उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था, तो वह स्वयं सिंहासन छोड़ कर अलग हो जाते! मगर मुझे लगता है कि इस मामले में वे आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नहीं कर सके। आदर्श राजा

अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है, मगर राम ने सीता को ऐसा अवसर नहीं दिया, वल्कि सीता को अभियोग का पता ही नहीं चलने दिया और जब पता लगा, तो उससे पहले उसे दण्ड दे दिया गया था।

सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लादा। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को मुसीबत की आग में झोंक दिया! सीता को बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से, सैर कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते हैं। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है, तो लक्ष्मण के धैर्य का बाँध टूट जाता है—वन-पशुओं की वेदनामय और अश्रुपूर्ण सहानुभूति पाकर! आज तक लक्ष्मण रोया नहीं था! संकट में, विषमता में, कभी उसने आँसू नहीं बहाया था! पर आज वही लक्ष्मण क्यों रो पड़ा? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला, तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा, पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था—

> एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
> हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
> नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
> तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥

देखो इन हिरनों को ! हरी-हरी दूब खाना छोड़ कर वे रो रहे हैं ! और ये हंस शोक के मारे कैसा करुणाजनक रुदन कर रहे हैं ! सीता की मुसीबत देख कर मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यों से तो यह पशु-पक्षी ही अच्छे हैं ! कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता !

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहाँ तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, जो व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए दिङ्नाग अगर मनुष्य की अपेक्षा पशुओं को श्रेष्ठ और पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों को निकृष्ट कहते हैं, तो क्या आश्चर्य है ? पशु कम-से-कम एक मर्यादा में तो रहते हैं कि वे अपनी जाति के पशु पर अत्याचार नहीं करते। सिंह कितना ही क्रूर स्वभाव का प्राणी क्यों न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो नहीं खाता। भेड़िया भेड़िया को तो नहीं मारता। पर, क्या मनुष्य इस मर्यादा को भी स्वीकार करता है ?

दूसरी बात और। पशु जब पशु पर आक्रमण करता है, तो वह ढोंग नहीं करता, सीधा आक्रमण कर देता है। मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे में डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ में छुरा भोंक देता है।

सच पूछो, तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सब से ज्यादा

भयंकर है। इन्सान को इन्सान से जितना खतरा है, उतना और किसी से नहीं है।

* * *

सिनेमा और अनैतिकता

हमारे सामने आज सिनेमा खड़े हैं और जहर बरसा रहे हैं। उनमें से शिक्षा कुछ नहीं आ रही है, केवल वासनाएँ आ रही हैं। प्रायः हरेक चित्रपट का यही हाल है। नवयुवक किसी डाकू का चित्र देखते हैं, तो डाकू बनने की और प्रेमी तथा प्रेमिका का चित्र देखते हैं, तो वैसा बनने की कोशिश करते हैं। और अधिकांश सोचते हैं कि बम्बई में जाएँगे और फिल्म-कम्पनियों में काम करेंगे। मगर फिल्म-कम्पनियों के दफतरों के आस-पास इतने नवयुवक, चीलों की तरह मंडराते हैं कि जाने वालों को कोई पूछता तक भी नहीं है।

युवकों में यह एक घुन लग गया है, जो उसे निरन्तर खोखला करता जा रहा है, और इस कारण, युवकों का, का जो नैतिक और विराट जीवन बनना चाहिए था, वह नहीं बन रहा है।

नारी-जाति की ओर ध्यान देते है, तो देखते हैं कि पवित्र नारी जाति, आज वासना की पुतली और पुजारिन बन गई है। जहाँ भी बाजारों में देखते हैं, उनकी तसवीरों

का अभिनेत्री के रूप में एक विज्ञापन मिलता है। नारी-जाति का मातृत्व और भगिनीत्व उड़ गया है और केवल वासना का ही रूप रह गया है।

आज करोड़ों रुपया सिनेमा-व्यवसाय में लगा हुआ है, और करोड़ों रुपया सिनेमा में काम करने वालों में वर्बाद किया जा रहा है। आज भारतवर्ष के सबसे बड़े नागरिक डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद हैं। राष्ट्रपति के रूप में उनके कन्धों पर कितना उत्तरदायित्व है, यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। किन्तु, उनको जितना वेतन मिलता है, सिनेमा के 'स्टार' को और 'हीरो' को उससे कई गुना मिलता है। बताया गया है कि सिनेमा-स्टार सुरैया को अस्सी हजार हर महीने मिलता है और महीने में केवल चार दिन काम करना पड़ता है-और शेष दिन मौज-मजे में गुजरते हैं।

तो यह करोड़ों रुपया कहाँ से आ रहा है? चवन्नी-अठन्नी वाले दर्शकों की जेबें काट कर धन के ढेर लगाये जा रहे हैं और उसके बदले में उन्हें वासनाओं का जहर मिल रहा है।

आप देख सकते हैं कि विदेशों में एक तरफ अपने देश को ऊँचा उठाने के लिए सिनेमा दिखलाए जाते हैं, उनकी सहायता से बालकों को शिक्षा दी जाती है और समाज की कुरीतियों को दूर किया जाता है और राष्ट्रीय, सामाजिक एवं आत्मिक चेतनाएँ दी जाती हैं। और दूसरी तरफ, भारत

में अनाचार, अनीति और वासनाओं का पाठ सिखाया जा रहा है। वे क्या कर रहे हैं और तुम क्या कर रहे हो? हमारे देश के सिनेमा सिवाय वासना की आग में अध-खिली कच्ची कलियों को झोंकने के और कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

जो देश हजारों और लाखों वर्षों पहले आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर पर आसीन रहा, जिस देश के सामने भगवान् अरिष्टनेमिनाथ और पितामह भीष्म का उज्ज्वल आदर्श चमक रहा है; जिस देश को भगवान् महावीर का 'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं' का प्रेरणा-प्रद प्रवचन सुनने को मिला है, जिसने अपनी सांस के साथ सदाचार और सन्मति का शिक्षण लिया है, जो देश, आज भी धर्म-प्रधान देश कहलाता है और जिसे विश्व का गुरु होने का गौरव प्राप्त है, वही देश आज इस हीन स्थिति पर पहुँच गया है कि यहाँ अनाचार की और वासनाओं की खुले आम शिक्षा दी जाती है। बड़े परिताप की बात है कि हमारी अपनी ही सरकार ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है और न प्रजा की ओर से ही इस विषय में आवाज बुलन्द की जा रही है।

मैं समझता हूँ, अब तक के चित्रों ने भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने की जितना प्रयत्न किया है, उतना किसी और ने नहीं किया। इन चित्रों ने युवकों और युवतियों को

जहर के इंजक्शन दिये हैं, जिससे उनका जीवन जहरीला बन गया है। और बनता जा रहा है। आज समाज पर उनका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। आज के सिनेमा भारत की लाखों वर्षों की संस्कृति के लिए एक चुनौती हैं।

* * *

प्रेम करना सीखिए

हर एक धर्म का भक्त अपने-आपको ईश्वर का उपासक और परमात्मा का प्रेमी कहता है। वह ईश्वर से प्रेम करने चला है। पर, जब हम उसके पारिवारिक जीवन को देखते हैं और देखते हैं कि वहाँ कलह का अखाड़ा जमा रहता है, तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहता। वह अपनी पत्नी के प्रति प्रेम प्रदर्शित नहीं कर सकता, बच्चों के ऊपर वात्सल्य का अमृत नहीं छिड़क सकता और अन्य पारिवारिक जनों के प्रति स्नेहमय व्यवहार नहीं कर सकता। तब हम समझते हैं कि उसका ईश्वर से प्रेम करना झूठा है। मैं समझता हूँ, उससे चढ़ कर कोई दंभी नहीं है। जिसके पास पारिवारिक जीवन में प्रेम की एक भी बूंद न हो, वह परमात्मा के प्रति प्रेम की धारा कैसे बहा सकता है? स्नेहहीन, शुष्क और जलता हुआ हृदय लेकर ईश्वर के पास पहुँचना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा करना अपने-आपको और दुनिया को धोखा देना है।

आचार्य रामानुज के पास एक भक्त आया। उसने कहा—"महाराज! मुझे अपना शिष्य बना लीजिए। मैं परमात्मा से प्रेम करना चाहता हूँ।"

रामानुज ने कहा—"शिष्य बनना और परमात्मा से प्रेम करना चाहते हो, यह तो अच्छा है, परन्तु पहले यह तो बताओ कि घर में तुम्हारा किसी से प्रेम है या नहीं? माता-पिता के साथ तुम्हारा प्रेम है? पत्नी से या सन्तान से प्रेम करते हो?"

आगन्तुक ने कहा—महाराज, सारा संसार स्वार्थ का है। भ्रम-जाल है। धोखे की टट्टी है। इसमें क्या रक्खा है? मुझे तो संसार से विरक्ति हो चुकी है। किसी से प्रेम नहीं रहा। अब तो परमात्मा से लौ लगानी है। आप झटपट शरण में लेकर रास्ता बतलाइए!"

आचार्य रामानुज ने कहा—"यह काम मुझ से नहीं हो सकेगा और मैं तुम्हारे जैसे को अपना शिष्य नहीं बना सकूँगा। मैं इतना कर सकता हूँ कि जिसके हृदय में परिवार के किसी भी सदस्य के प्रति प्रेम हो, तो उसे विस्तृत बना दूँ और विराट रूप प्रदान करने की कोशिश करूँ और उसे परमात्मा के चरणों तक पहुँचा दूँ। किन्तु जो पाषाण की भाँति शुष्क और नीरस है, उसमें से प्रेम की धारा कैसे निकलेगी? क्या पत्थर के टुकड़े में से कभी पानी की गंगा निकल सकती है? जिस पत्थर के टुकड़े में एक बूँद

भी पानी नहीं रहता, उसमें से झरना कैसे बहेगा ? जब तुम्हारे पाषण-हृदय में एक भी बूँद प्रेम की नहीं है, तो परमात्मा के लिए प्रेम की गंगा किस प्रकार निकलेगी ?"

आगन्तुक शिष्य आचार्य का उत्तर सुन कर, लज्जित होकर लौट गया।

तो आशय यह है कि हमें पत्थर का हृदय नहीं रखना है। पत्थर का हृदय रखकर हम परमात्मा से प्रेम नहीं कर सकते। मनुष्य का हृदय प्रेम से सरल होना चाहिए। उसका हृदय निर्मल प्रेम-जल से छल-छल करता हुआ सब के लिए बहना चाहिए। तभी सच्ची मनुष्यता आएगी, तभी जीवन में इन्सानियत की लहर उठेगी।

दुनिया के जितने भी धर्म हैं, वे सब मनुष्य को मनुष्य बनाने का संदेश देते है। कोई भी धर्म, नरक या पशु बनने की प्रेरणा नहीं करता। जिसने मनुष्य होकर मनुष्यता भी प्राप्त नहीं की, वह देवत्व को लूटने चलेगा, तो कैसे सफल हो सकेगा ? अतएव मनुष्य को सब से पहले मनुष्यता का पाठ पढ़ना है। मनुष्यता आ जायगी, तो दूसरे गुण अपने-आप दौड़े हुए आ जाएँगे। उस स्थिति में मनुष्य कल्याण-मूर्ति बन जाएगा। अपना भी कल्याण करेगा और दूसरों का भी कल्याण करेगा।

* * *

निष्पक्ष दृष्टि

जैनधर्म किसी भी प्रकार के वर्गवाद को प्रश्रय नहीं देता। जात-पाँत के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर या किसी भी अन्य स्थूल आधार पर खड़ी हुई श्रेणियों का वह पक्ष नहीं लेता। जैनधर्म न गरीब या अमीर की पूजा करता है और न अमीर या गरीब की निन्दा करता है। वह तो अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है, और प्रत्येक को उसी दृष्टिकोण से देखता और परखता है। वह उस दृष्टि-कोण के नाते उस धनवान् की भी प्रशंसा करता है, जो धन को पाता है, या पाने के लिए पुरुषार्थ और प्रयत्न करता है, किन्तु धन प्राप्त करते समय भी न्याय और नीति का ध्यान रखता है और प्राप्त करने के बाद भी उसे न्याय नीति से खर्च करता है। जो इस धन को प्राप्त कर के खुद ही नहीं डकार जाता है, किन्तु दूसरों की भलाई में भी लगाता है।

और यदि एक गरीब है, और उसके पास पैसा नहीं है, किन्तु सुन्दर जीवन है और शानदार ढंग से गृहस्थ की जिन्दगी चला रहा है। वह किसी कारण पैसा इकट्ठा नहीं कर सका, किन्तु न्याय-नीति है उसके साथ में, तो हम उसकी भी प्रशंसा करेंगे। ऐसे-ऐसे लकड़हारे हुए, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमें अच्छाइयाँ थीं, नैतिकता थी, तो हमने उसके भी गुण-गान किये हैं।

अभिप्राय यह है कि धन होने के कारण कोई प्रशंसा का पात्र नहीं बन जाता और न धन होने के कारण निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशंसा या अप्रशंसा के योग्य नहीं हो जाता। किन्तु, इधर गुण हैं, तो उधर प्रशंसा है और धनवान् या चक्रवर्त्ती राजा होने पर भी यदि गुण नहीं हैं, तो उसकी भी प्रशंसा नहीं की गई है। एक तरफ चक्रवर्ती भरत की प्रशंसा से ग्रन्थ के ग्रन्थ भरे पड़े हैं, तो दूसरी तरफ अर्ध-चक्रवर्ती रावण और चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी हैं, जिन्हें आदर्श की दृष्टि से नहीं देखा गया। और उनके लिए यहाँ तक कहा गया है कि वे नरक में गये हैं। उनमें प्रशसा के योग्य गुण नहीं आये, न्याय-नीति नहीं आई और वे प्रजा के हित के कार्य नहीं कर सके।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है, तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। हम चक्रवर्ती होने के नाते उसकी तारीफ या बुराई नहीं करते हैं। हम तो गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। यदि कोइे गरीब चोरी करता है, दुनिया-भर का गुण्डापन करता है, बुराइयों से काम लेता है, अपनी गरीबी को न आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है और न परिस्थितियों से न्यायपूर्वक संघर्ष करता है, तो हम उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे वरन् उसके अन्याय और

गुण्डेपन की निन्दा ही करेंगे।

जैनधर्म का ऐसा ऊँचा सिद्धान्त है। वह एक ही सन्देश लेकर चला है कि तुमने संसार को क्या दिया है और संसार से क्या लिया है? तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है या नहीं? इन्सान होकर इन्सान का-सा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नहीं? अगर सीखा है और तुम गरीब हो, तो हम तुम्हारा सत्कार और सन्मान करते हैं। और यदि जिन्दगी में गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नहीं सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा बोलना-चलना और उठना-बैठना नहीं सीखा, तो हम सम्राट् और गरीब दोनों से कहेंगे कि तुम्हारा जीवन गलत जीवन है और तुम हमारी प्रशंसा प्राप्त नहीं कर सकते! जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कह सकता। भगवान् महावीर ने साधुओं से कहा है:—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

—आचारांग

यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट्, सेठ या साहूकार मिल जाय, तो तुम दृढ़तापूर्वक अपने मन में किसी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्ट भाव से जो उपदेश दे सकते हो, वह दो और ऐसा ही उपदेश किसी गरीब को भी दो।

और जिस प्रेम एवं स्नेह से किसी गरीब को उपदेश देते हो, वही प्रेम और स्नेह चक्रवर्ती और सम्राट् के लिए भी रक्खो। अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए प्रेम और स्नेह का सन्देश लेकर चलो।

* * *

फूल और कांटे

दूसरों के प्रति उदार बनो, अनुदार नहीं। जब कभी दूसरों के सम्बन्ध में सोचो, तो उनके गुण और उनकी अच्छाइयाँ ही सोचो। गुण-दर्शन की उदार वृत्ति रखने से दूसरों के प्रति सद्भावना का वातावरण तैयार होगा। यह वातावरण अमृत का होगा, विष का नहीं। सद्भावना बुरों को भी भला बना देती है। क्या संसार में सब दुष्ट ही हैं, सज्जन कोई नहीं? जितना समय तुम दुष्टों की दुष्टता के चिन्तन में लगाते हो, उतना समय सज्जनों की सज्जनता के चिन्तन में लगाओ न? जो जैसों का चिन्तन करता है, वह वैसा बन जाता है। दुष्टों का चिन्तन एक दिन अपने को भी दुष्ट बना सकता है। घृणा का वातावरण अन्ततोगत्वा यही परिणाम लाता है।

और हाँ, दुष्टों में भी क्या कोई सद्गुण नहीं है? नीच से नीच आदमी में भी कोई छोटी-मोटी अच्छाई हो सकती है। अतएव तुम उसकी बुराई के प्रति दृष्टि न डालकर अच्छाई की ओर देखो।

दो साथी बाग में घूमते हुए गुलाब के पास पहुँच गए। गुलाब के सुन्दर फूल खिले हुए थे और आस-पास के वातावरण में अपनी मादक सुगन्ध बिखेर रहे थे। पहला साथी हर्षोन्मत्त हो उठा और बोला—"आह! कितने सुन्दर एवं सुगन्धित फूल हैं।" दूसरे साथी ने कहा—"अरे देखो, कितने नुकीले काँटे हैं ?"

यह है दृष्टि-भेद। बताओ, तुम क्या होना चाहते हो ? पहले साथी बनोगे अथवा दूसरे ? हमारी बात मान सकते हो, तो तुम भूल कर भी दूसरे साथी का मार्ग न पकड़ना। तुम गुलाब के फूल देखो, कांटे क्यों देखते हो ? जिनकी दृष्टि कांटों की ओर होती है, कभी-कभी वे बिना कांटों के भी काँटे देखने लगते हैं।

* * *

संसार दुःखी क्यों है ?

आज की सबसे बड़ी समस्या क्या है ? संसार क्यों चक्कर में पड़ा है ? नित नये संघर्षों का जन्म क्यों हो रहा है ? वर्गगत संघर्ष क्यों दैत्य की तरह भयानक होकर परेशान और भयभीत कर रहे हैं ? इन सब के मूल में एक ही चीज है और वह यह कि हमारे अन्दर वह धर्म आज सजीव नहीं रह गया है। मनुष्य अपनी वासना के लिए, खाने-पीने के लिए, भोग-विलास के लिए दूसरों को बर्बाद

कर रहा है, नेस्त-नाबूद कर रहा है। उसके लिए कुचली जा रही है दूसरों की जिंदगियाँ, तो भले कुचलें, किन्तु मेरा घर भर जाना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने अन्दर बंद हो गया है। फलतः उसे नहीं मालूम कि दूसरों पर कैसी गुजर रही है! तो ऐसा प्रेम, अपने अन्दर जागता हुआ भी प्रेम नहीं, स्वार्थ है, मोह है और वह अज्ञान की छाया में पड़ा है। वह धर्म नहीं है। इसी की बदौलत आज संसार की यह दुर्दशा है। वह प्रेम जब दूसरों के लिए संकट में काम लगेगा, करुणा की धारा में बहेगा और समष्टि के रूप में फैलाता जायगा, तो वही अहिंसा के साँचे में ढलता जाएगा।

जो आदमी अपने अन्दर बंद हो गया है, स्वार्थों से घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरतें और चीजें महत्त्वपूर्ण मालूम होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए दूसरों की जिंदगी की लापरवाही करता है। ऐसी लापरवाही करता है, जैसी एक नशेबाज ड्राइवर। मान लीजिए एक ड्राइवर है। उसने नशा कर लिया है। वह मोटर में बैठ जाता है और पूरी रफ्तार में मोटर छोड़ देता है। अब मोटर दौड़ रही है, और ड्राइवर को भान नहीं है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले हैं, दूसरों के जीवन भी इस सड़क पर घूम रहे हैं। वे मेरी बेहोशी से कुचले जा सकते हैं। वह तो नशे की मस्ती में झूम रहा है और मोटर उसकी तीव्रतम वेग के साथ दौड़ी जा

रही है। क्या यह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइवर है ? नहीं, कभी नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का प्याला चढ़ा लेता है और अपनी जीवन-गाड़ी को उन्मुक्त एवं तीव्र गति से दूसरे जीवन कुचले जा रहे हैं, मर रहे हैं, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह मनुष्य भी सच्चा मनुष्य नहीं है।

गाड़ी को तेज रफ्तार में छोड़ने पर कोई दुर्घटना या खतरा हो सकता है, अतः उसे ब्रेक लगा कर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाड़ी में ब्रेक न लगा हो, क्या उस गाड़ी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? ब्रेक-हीन गाड़ी चलाना दण्डनीय है। जीवन की गाड़ी को भी संयम का ब्रेक लगाओ। संयम का ब्रेक लगने पर जीवन की गाड़ी स्वयं भी सुरक्षित रहती है और दूसरों को भी सुरक्षित रखती है। हाँ, तो कोई ड्राइवर सोच समझकर मोटर चला रहा है। नशा उसने नहीं ले रक्खा है, और दिमाग को तरोताजा रख कर चला रहा है, मोटर को जैसे-तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुँचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु सड़क पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचा कर सकुशल ठिकाने पर पहुँचा देने वाला ही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है, तो दाएँ-बाएँ बचाकर चलाता है। फिर भी मनुष्य, मनुष्य है। कभी भूल हो जाती है। अस्तु, उसके बचाने का

पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई फेंट में आ ही गया, तो ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि वह उस हिंसा के पाप का अधिक भागी नहीं हुआ।

हाँ, तो आप भी जीवन की गाड़ी लेकर चल रहे हैं। गाड़ी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज में बन्द कर देना ही मोटर गाड़ी का उपयोग नहीं है। मोटर का उपयोग तो मैदान में चलाना है। किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी प्रकार जीवन में भी मन को बन्द करके सुला दो, जीवन की सारी हरकतें बन्द कर दो और शरीर को एक माँस-पिण्ड बना कर किसी एक कोने में रख छोड़ो, तो इससे क्या होने वाला है? जीवन को गतिशील रहने दो। गति-हीन जीवन, जीवन नहीं, जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना, कोई धर्म नहीं है।

भगवान् महावीर कहते हैं—"जीवन को चलाने की मनाई नहीं है। गृहस्थ हो, तो उस रूप में गाड़ी को चलाने हक है और साधु हो, तो भी चलाने का हक है, किन्तु चलाते वक्त नशा मत करो। बेभान न बनो। मस्तिष्क को साफ और तरो-ताजा रक्खो। ख्याल रक्खो कि जीवन की यह गाड़ी किसी से टकरा न जाय। व्यर्थ या अनुचित ढंग से किसी को कुछ नुकसान न पहुँच जाय!"

* * *

सामाजिक चोरी

विचार कीजिए, किसी आदमी के पास सम्पत्ति है। वह सम्पत्ति आखिर समाज में से ही तो ली गई है। वह आकाश से तो नहीं बरसी है, और न पूर्व-जन्म की गठरी ही बाँध कर साथ में लाई गई है। मनुष्य तो केवल यह शरीर ही लेकर आया है। बाकी सब चीजें तो उसने यहीं प्राप्त की हैं। और प्राप्त तो करली हैं, किन्तु उनका सही उपयोग नहीं करता है। ठीक-ठीक इस्तेमाल नहीं करता है। उन्हें दबाए बैठा है। न अपने लिए, न दूसरों के लिए ही काम में लाता है, तो यह भी सामाजिक चोरी है।

कहने को तो यह चोरी नहीं है और समाज भी इसे चोरी समझने को तैयार नहीं है। पर, जैन-धर्म की दृष्टि से यह भी चोरी है। समाज से धन इकट्ठा किया और डाले रक्खा, सारी जिन्दगी समाप्त हो गई—न अपने लिए और न दूसरों के लिए ही उसका उपयोग किया, तो यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

जो व्यक्ति सम्पत्ति पा करके भी उसे प्राणों से लगाए रहता है और आर्त-रौद्र ध्यान में शरीर को लगाता रहता है, अपनी आध्यात्मिक चेतना को बराबर नष्ट करता रहता है। बूढ़े माँ-बाप की सेवा के भाव भी नहीं रखता है, पत्नी तथा सन्तति की उन्नति की बात भी नहीं सोचता है और

अपनी जिन्दगी में ठीक ढंग की तैयारी भी नहीं करता है। इन सब सामाजिक पारिवारिक प्रयोजनों के लिए धन का उपयोग न करके उसे दबाए बैठा रहता है, तो मैं नहीं समझ पाता कि वह व्यक्ति चोरी नहीं करता, तो और क्या करता है?

यह तर्क का प्रश्न है, और विचार की बात है। मैं पहले अपने ऊपर ही घटाता हूँ। मान लीजिए, एक व्यक्ति साधु बन गया है, किन्तु साधु का जो कर्तव्य है और उत्तर-दायित्व है, उसे पूरा नहीं कर रहा है, तो वह चोर है या साहूकार है?

यहाँ तो आप चटपट कह देंगे कि वह चोर है, यहाँ आपकी तर्क-बुद्धि काम कर जाती है और मैं समझता हूँ कि वह ठीक काम कर रही है। क्योंकि उसने संसार छोड़ा है, साधुत्व की प्रतिज्ञा ली है, जीवन के क्षेत्र में खड़ा हो गया है और आप से यश, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। आहार पानी और जीवन की अनिवार्य सामग्री लेता है; फिर भी अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है और साधु-पद की मर्यादा का अनुसरण नहीं करता है, तो वह भगवान् का चोर है। और सबसे बढ़कर वह अपनी आत्मा का चोर है; क्योंकि वह आत्म-वंचना कर रहा है, अपने-आप को धोखा दे रहा है!

यह बात आप जल्दी और बिना किसी संकोच के समझ

गये हैं, मान गये हैं। मगर यही बात आपको अपने सम्बन्ध में भी समझनी और माननी चाहिए।

आप अपने लिए 'कृपण' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। अर्थात् कह सकते हैं कि अपने धन का अपने लिए तथा दूसरे के लिए उपयोग न करने वाला और इस रूप में अपने परिवार और समाज के प्रति कर्तव्य से विमुख रहने वाला व्यक्ति 'चोर' नहीं 'कृपण' है। तो इस तरह तो मैं भी साधु के लिए कोई नया शब्द गढ़ सकता हूँ और कह सकता हूँ कि अपने कर्तव्य का पालन न करने वाला वह साधु 'कृपण' या दुर्बल है, ढीला है।

न्याय की तुला किसी का लिहाज नहीं करती। अतएव अपने कर्तव्य का पालन न करने वाले साधु को आप जिस शब्द से सम्बोधित करने को तैयार हैं, उसी शब्द से अपने कर्तव्य से विमुख रहने वाले गृहस्थ को भी सम्बोधित करने में क्यों संकोच करते हैं? मतलब यह है कि जैसे अपने उत्तरदायित्व को न निभाने वाला साधु चोर है, उसी प्रकार अपना कर्तव्य न निभाने वाला, अपनी धन-सम्पत्ति का स्व-पर के हित के लिए समुचित उपयोग न करने वाला गृहस्थ भी समाज का चोर है।

* * *

पैसे का गज

जो धन को उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते हैं, वे गलत राह पर चल रहे हैं। इन गलत विचारों का नतीजा यह आया है कि समाज में से उच्च चारित्र का प्रायः लोप हो गया और जो सत्कर्म किये जाते थे, उन्हें लोगों ने छोड़ दिया। आज मुख्य रूप से एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि अगर बड़ा बनना है, तो धन कमाओ, तिजोरियाँ भरो! जो जितना धन कमा लेगा, वह उतना ही बड़ा माना जायगा। इस तरह परमात्मा की उपासना का तो नाम रह गया और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी! चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला काटने से मिले, धन मिल गया, तो बड़प्पन मिल गया। समाज में और बिरादरी में सम्मान बढ़ गया और ऊँचा आसन प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और भगवान् का नाम लेकर लोग धन की ही उपासना में लीन हो रहे हैं।

औरों की बात जाने दीजिए। हमारे समाज की शिक्षा-संस्थाओं की ही तरफ दृष्टि डालिए। समाज में जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विश्व-विद्यालय चल रहे हैं, उनका उद्देश्य विद्या की वृद्धि करना और धर्म का उद्योत करना होता है। पर

प्रायः उनके अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नहीं उठ पाते। जब कभी इन संस्थाओं में कोई उत्सव या समारोह होता है, तो सर्वप्रथम धनवान् की तरफ ही नजर दौड़ती है। सभापति बनाना है, तो ज्ञान को कोई नहीं पूछेगा। यह जानने की कोई परवाह नहीं करेगा कि वह जनता को क्या देने चला है? बड़प्पन और छोटेपन को नापने का आज एकमात्र गज धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है, वही ज्यादा बड़ा है। हजार बार प्रयत्न करके संस्थाओं के अधिकारी उसी के पास जाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम ही नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सारे बुरे आचरणों पर राख डाल देंगे, उसकी गन्दी बुराइयों को फूलों के ढेर से ढँक देने की कोशिश करेंगे।

मगर गन्दगी क्या फूलों से ढँक देने से पवित्र बन जायगी? एक जगह मैला पड़ा है। किसी ने उसे फूलों से ढँक दिया है। थोड़ी-सी देर के लिए वह भले ही छिप गई है, मगर आखिर उसकी बदबू छिपेगी नहीं और वह फूलों को भी गन्दा करके ही रहेगी। आचरण-हीन व्यक्ति के विषय में भी यही बात है। फिर जो व्यक्ति आचरणहीन है, उसे धन की बदौलत सम्मान देकर और उसकी तारीफ के पुल बाँध कर आप भले ही आसमान पर चढ़ा दें, मगर इससे उसका या समाज का भला नहीं होगा। वह सम्मान

मिलता देखकर अपने अवगुणों के प्रति असन्तोषशील नहीं बनेगा, अपने दोषों को हिकारत की निगाह से नहीं देखेगा, उन्हें त्यागने के लिए तत्पर नहीं होगा, बल्कि अपने दोषों के प्रति सहनशील बनता जायगा। इस प्रकार दोषों को और आचरण-हीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी, तो समाज में वे दोष घर कर जाएँगे।

आशय यह है कि आज समाज में व्यक्तित्व को नापने का गज पैसा बन गया है। जिसके पास जितना पैसा है, वह उतना ही बड़ा आदमी है। साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नहीं है, किन्तु जीवन की पवित्रता है और अच्छे विचार हैं और विवेक है, उसे क्या कभी कुर्सी पर बैठे देखा है आपने? सभापति बनते देखा है? समाज में आदर पाते देखा है? इसका एकमात्र कारण यही है कि समाज में धन की कसौटी पर ही बड़प्पन को परखा जाता है और निर्धन की कोई पूछ नहीं होती।

मैंने देखा है और आये दिन इस तरह की घटनाएँ कोई भी देख सकता है। एक व्यक्ति के घर में पत्नी मौजूद है, सारी व्यवस्था है और सब-कुछ ठीक चल रहा है। उसने किसी तरह पैसा कमा लिया, तो दूसरा विवाह कर लिया। समाज में हलचल मची, तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंक दिया। बस, सब ठीक हो गया। जितनी हवाएँ उसके विपरीत चल रही थीं, खत्म हो

गईं और उसे आदर-सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी किस दशा में आँसू पोंछ रही है और उसकी क्या व्यवस्था चल रही है और दूसरी पत्नी क्या तमाशे कर रही है, इन सब बातों को अब कोई नहीं पूछता।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के सामने ऊँचाई को नापने का गज धन ही रहा है। जिसने धन कमा लिया, वही ऊँचा बन गया। मगर धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है, तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। मगर सद्बुद्धि और सदाचार क्या अन्याय से प्राप्त किया जा सकता है? इन्हें प्राप्त करने की एक ही राह है, और वह काँटों की राह है। जो अपने जीवन को जितना-जितना इस राह पर बढ़ाता जायगा, वह उतना ही ऊँचा उठता जायगा। सत्य की राह पर जाने वालों को शूली की सेज मिलेगी और उन्हें अपना सारा जीवन काँटों की राह तप करते-करते गुजारना पड़ेगा।

* * *

जीओ और जीने दो

मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में खुश रहे और दूसरे को भी खुश रक्खे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मिला और दोनों की मुस्कराहट का लेन-देन हुआ। आप उसे देखकर हर्षित हुए और वह आपको देख कर हर्षित हुआ। और हर्ष के

साथ ही दोनों अलग-अलग हुए, तो हम समझेंगे कि दो इन्सान मिले थे। और यदि दो मिले और चेहरे पर सिकुड़न डाल कर मिले और रोते हुए विदा हुए दोनों कड़वापन लेकर विदा हुए, तो क्यों न समझा जाय कि इन्सान नहीं, कोई और मिले थे ?

जीवन का लक्ष्य क्या है ? खुश रहो और खुश रहने दो। जीवन खुश रहने को है, रोने को नहीं है। आँसू आएँ, तो उनके जहर को पी जाओ और दूसरों को अमृत बाँटो। शिव ने जहर पिया और अमृत दिया। दुनिया है भाई, दुनिया ! यहाँ सब जगह फूलों की सेज नहीं है। यहाँ तो शूलों के मार्ग पर भी चलना पड़ता है। कभी फूलों और कभी शूलों से निबटना पड़ता है। पर प्रत्येक स्थिति में तुम खुश रहो और दूसरों को खुश रक्खो और ऐसा मनोभाव पाने की प्रभु से प्रार्थना करो।

दूसरे शब्दों में, जिंदा रहो और दूसरों को भी जिंदा रक्खो। प्रत्येक को हक है कि जिंदा रहे और 'बहुत दिनों तक रहे, मौत से लड़े और उसे ठुकराए। कोई कहीं खड़ा हो, अगर उसका जीवन संयम, सदाचार और सेवा का जीवन है, अगर उसके जीवन का एक-एक क्षण त्याग और वैराग्य की भावनाओं में गुजर रहा है, तो वह अधिक-से-अधिक दिन जिंदा रहेगा और उसे जिंदा रहने का हक है। ऐसा व्यक्ति अपनी ही तरह वह दूसरों को भी जिंदा रक्खेगा।

दूसरों की लाश पर जिंदा-रहना जीवन का अर्थ नहीं है। दूसरों के रोने पर, दूसरों को बर्बादी पर और दूसरों की पनपती हुई जिंदगी को रौंद कर जिंदा रहना, यह कोई जीवन नहीं है। स्वयं जीवित रहना और दूसरों को जीवित रहने देना—यही नहीं, बल्कि दूसरों के जीवित रहने में सहायक होना ही जीवन का वास्तविक अर्थ है।

मैं आपसे यही कहना चाहता हूँ। इन दो शब्दों में भारतवर्ष की संस्कृति का निचोड़ आ गया है। जीवन में कितने ही संघर्ष आएँ, फिर भी अगर आप खुश रहते हैं, तो आत्मा का अपमान नहीं होता। और जब दूसरों को खुश रक्खेंगे और उन्हें जिन्दा रखने का प्रयत्न करेंगे, तो दूसरों का भी अपमान नहीं होगा।

* * *

सन्तति-निरोध और संयम

भारत की बढ़ती हुई जन-संख्या को देखकर हमारे नेताओं के समक्ष एक विकट समस्या उपस्थित हो गई है। अगर उस समस्या का समुचित समाधान न किया गया, तो क्या परिस्थिति उपस्थित हो जायगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। भारत की जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है, खाने-पीने का प्रश्न विकट होता जा रहा है और जनता में बड़ी अजीब-अजीब बातें हो रही हैं।

कई लोग समस्या का हल पेश करते हैं कि सन्तति-नियमन होना चाहिए। जहाँ तक सन्तति-नियमन का सवाल है, कोई भी विचारक उससे असहमत नहीं हो सकता। पर, जब लोग कृत्रिम साधनों से, वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके नियंत्रण की बात कहते हैं, तो हम सोचते हैं कि यह क्या चीज है ? क्या मनुष्य विकारों और वासनाओं से इतना दब गया है कि इस कृत्रिमता से ऊपर उठ ही नहीं सकता ? यह विचार गलत है।

हमारे पास ब्रह्मचर्य का सुन्दर साधन मौजूद है और वह दूसरे उपायों से सुन्दर है। फिर क्यों नहीं उसकी हिमायत की जाती ? उससे सन्तति का प्रश्न भी हल होता है, और सन्तति के जनक और जननी का भी प्रश्न हल होता है। वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करने का अर्थ है कि मनुष्य खुल कर खेले और अपने जीवन को भोग की आग में होम दे। उस हालत में सन्तति-नियंत्रण का अर्थ होता है, अपने-आप पर अनियंत्रण ! अभिप्राय यह हुआ कि यदि ठीक रूप में और ठीक समय पर इस शरीर को ब्रह्मचर्य का खाद मिलता है, और ब्रह्मचर्य का संकल्प जाग जाता है, तो जीवन की सुन्दर और हरी-भरी खेती उसमें लहलाने लगती है। और यदि दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ, तो क्षय की बीमारी आ घेरती है और कहते हैं कि क्षय की बीमारी से हड्डियाँ गल जाती हैं और वे धीरे-धीरे

खिरने लगती हैं।

एक नौजवान मिले। देखने में शरीर से ठीक थे, किन्तु हताश और निराश! उन्होंने कहा—"मेरी हड्डियाँ इतनी कमजोर हैं कि वे खिरती रहती हैं!" और उस नौजवान के इन शब्दों को ध्यान में रखकर मैंने सोचा—"यह इसके माता-पिता की भूल है। वे अपने जीवन को नियंत्रण में नहीं रख सके और उसका कुपरिणाम इस प्रकार उसकी सन्तति को भोगना पड़ रहा है।

एक बार हम शिमला गये! रास्ते में एक गांव पड़ा, धर्मपुरा। वहां क्षय रोग का अस्पताल है। अस्पताल में इधर के ही एक भाई बीमार पड़े थे और खबर आई कि वे दर्शन करना चाहते हैं। हम वहाँ गये, तो देखा कि सैकड़ों आदमी वहाँ मौजूद हैं। विविध प्रकार की टी० बी० के शिकार! मालूम हुआ कि कोई-कोई तो चार-पाँच वर्ष से यहाँ पड़े हैं। इस प्रकार उधर घर बर्बाद हो रहा है और इधर वे मौत की घड़ियाँ गिन रहे हैं।

एक भाई ने बतलाया—"महाराज! मैं यहाँ तो ठीक हो जाता हूँ, किन्तु घर पहुँच कर फिर बीमार हो जाता हूँ। बस, यहाँ और वहाँ भटकने में ही जिन्दगी कट रही है।"

बात यह है कि अस्पताल में रहकर शरीर कुछ ठीक बना, तो घर गये। और वहाँ जीवन में संयम नहीं रहा, बुरी आदतों के शिकार हो गए। अस्पताल में जो तैयारी

हुई थी, वह घर में जाते ही वर्बाद हो गई, शरीर फिर गलने लगा और फिर धर्मपुरा पहुँचे।

मैंने सोचा—"यह हमारे देश के नौजवान हैं। इनकी उठती हुई जिन्दगियाँ क्या धर्मपुरे की ही दौड़ लगाने को हैं ? क्या इसी दौड़ में इनका जीवन समाप्त होने को है ?"

इसीलिए जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण बात कही है कि इस शरीर को साधारण मत समझो। इस शरीर को भोग की आग में मत झोंको। ऐसी राह पर चलो कि शरीर को इतना शक्तिशाली बना सको कि समय पर दुःखों और कष्टों को सहन किया जा सके। दुनिया-भर के कष्ट आ पड़ने पर भी शरीर कार्य-क्षम बना रह सके। और साथ ही आत्मा भी इतनी बलवान् रहे कि वह वासनाओं के कांटों में न उलझे। भोग में न गले।

आशय यह है कि शरीर का केन्द्र मजबूत रहेगा, तो आत्मा भी अपनी साधना में दृढ़ता के साथ तत्पर रह सकेगी। अतएव शरीर को मार कर आत्म-कल्याण की बात न सोचो और न आत्मा को मार कर शरीर को सुकुमार बनाओ !

* * *

इन्सानी सिक्के

जैन-धर्म यदि व्यक्ति को महत्त्व देता है, तो उसके समूह को भी वह उतनी ही महत्ता प्रदान करता है। वह व्यक्ति तथा समाज दोनों के ही उत्थान का हामी है। वह व्यक्ति का भी कल्याण चाहता है और समूची मानव-जाति का भी। वह सोचता है, कोई भी आत्मा पतन की ओर क्यों जाए? वह अगर पतन के गड्ढे में गिर भी गई है, तो वहीं पर पड़ी-पड़ी क्यों कराहती रहे? संसार की प्रत्येक आत्मा को वह उन्नति के शिखर पर देखने का अभिलाषी है। पापी से पापी के लिए भी उसके यही विचार हैं। वह सोचता है, किसी का आचारण अपवित्र हो सकता है, मगर उसकी आत्मा तो पवित्र है। सोने के पात्र में यदि शराब भरी है, तो क्या वह सोने का पात्र अपवित्र है? और वह इस प्रश्न का उत्तर 'नकार' में देता है। उसकी दृष्टि में पात्र फैंका नहीं जा सकता, फैंका भी नहीं जाता। जीवन में देखते हैं कि आप एक पैसा भी नहीं फैंक सकते। तब सोने के बने उस पात्र की तो बहुत कीमत है।

एक समय हम विहार कर रहे थे। मार्ग में मैंने देखा—"एक गरीब आदमी, एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ, लोगों से पैसा माँग रहा है। कई व्यक्ति निकले और आगे बढ़ गये; मगर उसकी ओर किसी ने आँख उठा कर

भी नहीं देखा। तभी वहाँ पर एक तांगा भी आया और उस में बैठी हुई किसी सवारी की दुअन्नी-चवन्नी या अठन्नी सड़क पर गिर गई, तो उसी वक्त ताँगा रुकवाया गया और उस सिक्के को ताँगे में से उतर कर उठाया गया। फिर, बड़े प्रेम के साथ उसे जेब में रख लिया गया। ताँगा आगे बढ़ गया।"

मैंने सोचा "एक सिक्का, जो अठन्नी या चवन्नी के रूप में है, वह इतना महत्त्व-पूर्ण है कि उसके लिए ताँगा रुकवाया जा सकता है, ताँगे से नीचे उतरा जा सकता है; और उसे बड़े प्रेम के साथ उठाकर जेब में रक्खा जा सकता है; मगर समस्त मानव-जाति का एक सिक्का, जो वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ है, उसके लिए न तांगा रुक सकता है, न उतर कर उसे देखने की कोशिश ही की जा सकती है। फिर उसे आदर देने की बात तो बहुत दूर की है, बहुत बड़ी है।"

जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं, तो यह सत्य हमारे सम्मुख स्पष्ट हो जाता है कि आजकल संसार में सभी चीजों का मूल्य बढ़ रहा है; मगर अकेला इन्सान ही ऐसा है, जिस की कीमत दिन-पर-दिन गिरती जा रही है।

* * *

चलना सीखिए

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति की परम्परा में चलने के लिए भी नियम है। सामने से बच्चा आ रहा है और रास्ता तंग है, तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बच्चे को सुविधा देनी चाहिए। उसका सम्मान करना चाहिए। बच्चा दुर्बल है, और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नहीं; क्योंकि वह गड़बड़ में पड़ जायगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। अगर कोई बहिन आ रही है, तो भारतीय संस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बच कर एक ओर खड़ा हो जाना चाहिए और उसे सीधी राह से चलने देना चाहिए। कोई वृद्ध आ रहा है, तो नौजवान को अलग किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नहीं होने देना चाहिए। उसकी जईफी का खयाल रख कर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है, तो प्रजा का अधिकार है कि वह उसे रास्ता दे और किनारे खड़ी हो जाय। पहले राजा थे, अब इस जमाने में नेता या संरक्षक होते हैं। न मालूम वे कहाँ किस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जा रहे हैं? उनके रास्ते में रोड़ा क्यों अटकाया जाय? और यदि सामने से साधु-संत आ रहे हों, तो राजा को भी रास्ता बचा कर किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और

साधु को सीधा चलने देना चाहिए। प्रश्न होता है, साधु को भी कहीं रुकना चाहिए कि नहीं ? सभ्यता और संस्कृति की आत्मा अपने-आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है, तो साधु को भी रास्ता छोड़ किनारे खड़ा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चल रहा है, बोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है, उसे हटने के लिए न कहा जाय। चाहे कोई राजा हो या साधु-सन्त हो, उस मजदूर के लिए सब को हटना है, उसके श्रम का आदर करना है।

* * *

अमृत और विष

जीवन में रोटी चाहिए या नहीं, यह प्रश्न महत्त्व नहीं रखता, किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप में चाहिए और और कहाँ से आनी चाहिए ? यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण है जीवन में। वह रोटी शुभ प्रयत्न से आई है या बहुत बड़ा अत्याचार और अन्याय करके आई है ? रोटी तो छीना-झपटी, लूट-मार और डाका डाल कर भी आ सकती है और बेईमानियाँ करके भी आ सकती है। किन्तु वह रोटी, जिसके पीछे अन्याय और अनीति है, बुराई, छल-कपट, धोखा और फरेब है, आत्मा की खुराक

के साथ नहीं रह सकती। वह रोटी, जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारों ओर रक्त की बूंदें पड़ी हैं, वह रोटी जहर बन जाती है। वह रोटी व्यक्ति का भी पतन करेगी और जिस परिवार में ऐसी रोटी आती है, उस परिवार का, समाज का और राष्ट्र का भी पतन करेगी। वहाँ न साधु का धर्म टिकेगा और न गृहस्थ का ही धर्म रहेगा। वहाँ धार्मिक जीवन की कड़ियाँ टूट-टूट कर गिर जाएँगी। और जहाँ यह दाग कम-से-कम होंगे, वह रोटी अमृत बनेगी। वह जीवन का रस लेकर आएगी और उससे आत्मा और शरीर दोनों का पोषण होगा। न्याय-नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, महारंभ के द्वार से नहीं, किन्तु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी पवित्रता का रूप लेगी और वही अमृत-भोजन बनेगी। वह अमृत का भोजन मिठाई के रूप में नहीं होगा, रूखा-सूखा टुकड़ा होगा, तब भी वह अमृत का भोजन है।

दुनिया-भर का बढ़िया भोजन थालियों में सजा है, किन्तु विवेक और विचार नहीं है, सिर्फ पेट भरने की भूमिका है, तो वह कितनी ही स्वादिष्ट और मधुर क्यों न हो, वह अमृत-भोजन नहीं है। ऐसी भारत की परम्परा और जैन-संस्कृति की परम्परा रही है।

* * *

अपनी ओर देखो

भारत सदा कार्य करना सीखा है, बातें बनाना नहीं। उसने दोषमयी दृष्टि से दूसरे की ओर आँख उठा कर देखने का कभी प्रयास नहीं किया है। दूसरा यदि मोह की निद्रा में सोया पड़ा है, तो मधुर-मधुर एवं जीवन-स्पर्शी वचनों द्वारा जागरित करना, तो उसका परम कर्तव्य रहा है, किन्तु उसकी निन्दा तथा आलोचना करना उसकी मनोवृत्ति के प्रतिकूल रहा है। इस दिशा में वह केवल अपनी ओर देखता है तथा अपने ही जीवन का निरीक्षण-परीक्षण करता है। किन्तु आज हम समाज तथा राष्ट्र की कटु आलोचना तो कर देते हैं, टीका-टिप्पणी करने के लिए लम्बे-चौड़े भाषण भी दे सकते हैं। परन्तु, जब काम करने का समय आता है, तब दायें-बायें झाँकने लगते हैं। बातें बनाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं और कार्य करने की आशा हम दूसरों से रखते हैं। इसी भावना के पीछे हमारे पतन के बीज छिपे हैं।

यदि हमें अहिंसा का दिव्य सन्देश विश्व को देना है, तो उसकी भूमिका अपने जीवन से ही प्रारम्भ करनी होगी। जीवन में उदारता का प्रसार करने के लिये हृदय को विशाल और विराट् बनाना होगा। दूसरे की आशा न रखते हुए प्रत्येक सत्कार्य अपने बाहु-बल से करना होगा।

किन्तु, आज हम एक दूसरे की दुरालोचना करने में जीवन के अमूल्य क्षण नष्ट कर रहे हैं। मुझे अपनी आँखों देखी घटना याद आ रही है। एक बार हम विहार करते हुए जा रहे थे। सड़क के बीच में एक बड़ा-सा पत्थर पड़ा हुआ था। कितने ही यात्री आए और दृष्टिपात करते हुए आगे निकल गए। इतने में ही एक बैल गाड़ी आई। गाड़ी का पहिया पत्थर से टकराने पर गाड़ीवान भी "किस शैतान ने सड़क के बीच में पत्थर डाल दिया है" आदि गालियाँ सुनाता हुआ आगे निकल गया; किन्तु इतना नहीं हो सका कि उस रास्ते के रोड़े को अलग कर दे।

यह एक छोटी-सी घटना है। इस प्रकार की घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन में न जाने कितनी बार घटती हैं। हमारी जीवन-गाड़ी के सामने बहुत-से रोड़े आते हैं। हम उनकी आलोचना करते हुए चले जाते हैं, किन्तु, उन्हें दूर करने का तनिक भी प्रयास नहीं करते। आज समाज में अछूत, जातिभेद, साम्प्रदायिकता आदि कई रोड़े जड़ जमाये हुए हैं, किन्तु हमारे अन्दर उन्हें उखाड़ फेंकने की भावना ही जागृत नहीं होती।

कृत्रिम वसन्त

ब्रह्मचर्य मनुष्य-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण वस्तु है और जीवन को सुन्दर बनाने वाला है। यदि उसका यथोचित उपयोग न किया गया, तो जीवन भोगों में गल जायगा। आज-कल सब जगह रोग-ग्रस्त शरीर दिखलाई देते हैं और घर-घर बीमारों के बिस्तर लग रहे हैं। उसका प्रधान कारण शरीर का मजबूत न होना है, और शरीर के मजबूत न होने का कारण ब्रह्मचर्य का पालन न करना है। भारत के इतिहास में ब्रह्मचर्य के जो उज्ज्वल और शानदार उदाहरण आये हैं, वे आज दिखाई नहीं दे रहे हैं।

कहाँ है आज भारतीय तरुणों के चेहरों पर वह चमक? कहाँ गई वह भाल पर उद्भासित एवं उल्लसित होने वाली आभा? कहाँ गायब हो गई नेत्रों की वह ज्योति? कहाँ चली गई ललाट की वह ओजस्विता? सभी कुछ तो वासना की आग में जल-जल कर राख बन गया! आज नैसर्गिक सौन्दर्य के स्थान पर पॉउडर और लैवेंडर आदि के द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है, पर मुर्दे का शृंगार क्या उसकी शोभा बढ़ाने में समर्थ हो सकता है?

ऊपर से पैदा की हुई सुन्दरता जीवन की सुन्दरता नहीं है। ऐसी कृत्रिम सुन्दरता का प्रदर्शन करके आप दूसरों को भ्रम में नहीं डाल सकते। अधिक-से-अधिक यह हो सकता

है कि आप स्वयं भ्रम में पड़ जाएँ! कुछ भी हो, यह निश्चित तथ्य है कि उससे कुछ बनने वाला नहीं है जीवन में।

एक वृक्ष सूख रहा है, उसमें जीवन-रस नहीं रहा है। तब कोई भी रंगरेज या चित्रकार उसमें वसन्त लाना चाहेगा, तो पत्तों पर हरा रंग पोत कर वसन्त नहीं ला सकेगा। इसके निष्प्राण सूखे पत्तों पर रंग पोत देने से वसन्त नहीं आ सकता। वसन्त तो तब आयगा, जब जीवन में हरियाली होगी। वह हरा-भरा वृक्ष अपने-आप ही अपनी सजीवता के लक्षण प्रकट कर देगा।

इसी प्रकार ऊपर से पॉउडर या क्रीम का रंग पोत लेने से जीवन में वसन्त का आगमन नहीं हो सकता। वसन्त तो जीवन के मूलाधार ब्रह्मचर्य से प्रस्फुटित होता है। जीवन में असली रंग ब्रह्मचर्य का है। किन्तु वह नष्ट हो रहा है और देश के हजारों नौजवान जवानी का दिखावा दिखाने के लिए चेहरे पर रंग पोतने लगें हैं। पर रंग पोतने से क्या होता है? चेहरे पर चमक और दमक लानी है, और तेज लाना है, जीवन को सत्त्वमय बनाना है, क्षमताशाली बनाना है और मन को सशक्त बनाना है, जीवन को सफल और कृतार्थ करना है, तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो। ब्रह्मचर्य की ही साधना और आराधना करो। तभी जीवन में सच्चा वसन्त खिल सकता है!

विराट् चेतना

आज हमारे जीवन की गति-विधि यह हो गई है कि हम प्रत्येक दिशा में अपने को अपने-आप में ही सीमित कर लेते हैं। आज का मनुष्य अपने विषय में ही सोचता है। खाना-पीना, सुख-सुविधा आदि समस्त कार्य केवल अपने लिए ही करता है। किन्तु भारत की चेतना, भारत का स्वभाव इस से सर्वथा विपरीत रहा है। उसने कभी भी अपने लिए नहीं सोचा है। उसका सुख अपना सुख नहीं रहा है और न ही उसका दुःख अपना दुःख रहा है। भारत सदैव प्राणीमात्र के जीवन को अपने साथ लेकर गति करता रहा है। उसने न कभी अपनी पीड़ा से आर्त हो कर आँसू छलकाए हैं और न सुख में भान भूल कर कहकहा लगाया है। हाँ, दूसरे को कांटा चुभने पर इसने अपने अश्रु-कणों से उसके दुःख को धोकर हलका करने का सत्प्रयत्न अवश्य किया है।

जैन-धर्म से हमारा निकटतम का सम्बन्ध है। जीवन के प्रभात से हम उसी की गोद में खेले और पले हैं। जब हम जैन-धर्म का तलस्पर्शी अध्ययन करते हैं, तो इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि वह अपने जीवन में प्रत्येक प्राणी का— फिर चाहे वह क्षुद्र चींटी से लेकर विशालकाय गजेन्द्र तक क्यों न हो—सुख-दुःख लिये हुए है। प्राणीमात्र को दुःख के

गहन गर्त से निकालना उसका परम कर्तव्य रहा है। दूसरे को दुःखार्त देखते ही उसका अन्तःकरण सिहर उठता है। वह अपना आनन्द, अपना सुख, अपनी चेतना, अपना अनुभव, अपनी सम्पूर्ण शक्ति विश्वजनीनता के लिए अर्पण करने को सदैव सन्नद्ध रहा है। उसकी चेतना की धारा सदा अजस्र रूप से प्रवहमान रही है।

भगवान् महावीर के युग में जनता के मन में एक दार्शनिक प्रश्न उलझा हुआ था कि "पाप कहाँ बन्धता है और कहाँ नहीं ?" इस यक्ष-प्रश्न को सुलझाने के लिए न मालूम कितने दार्शनिक मस्तिष्क की दौड़ लगा रहे थे ? कोई किसी में पाप बतला रहा था, तो कोई किसी में। किन्तु, भगवान् महावीर की कल्याणी वाणी ने जनता के हृदय-कपाट खोल दिये। उन्होंने बतलाया कि "इस प्रश्न का समाधान अन्तर्मुख होने से मिल सकता है। जब मानव व्यष्टि के चक्कर में फँस कर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है, अपनी आवश्यकताओं को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है, अपने ही सुख-दुःख का विचार करता है, तो वह पाप-कर्म का उपार्जन करता है; किन्तु जब उसकी चेतना व्यष्टि की ओर से समष्टि की ओर प्रवाहित होती है, जब वह अपने वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर, विश्व-कल्याण की सद्भावना से प्रेरित होकर विशुद्ध प्रवृत्ति करता है, तो वह विश्व में शान्ति का साम्राज्य

स्थापित करता है, फलतः पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता। उस महापुरुष की अमर वाणी आज भी भारत के मैदान में गूंज रही है—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्म न बंधइ ॥

अपने अन्तर्हृदय को टटोलकर देखो कि आप विश्व के प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझते हो या नहीं? यदि आप प्राणीमात्र को आत्ममयी दृष्टि से देखते हो, उन्हें कष्ट पहुँचाने का विचार नहीं रखते हो, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते हो, तो तुम्हें पाप-कर्म का बंध नहीं होगा। 'पापों का प्रवाह प्राणियों को दुःख देने से आता है, दुःख मिटाने से नहीं। अतः ज्यों-ज्यों तुम्हारे अन्दर समाज, राष्ट्र तथा विश्व की विराट चेतना पनपती जाती है, त्यों-त्यों पाप का बन्ध भी न्यून-न्यूनतर होता जाता है। जब तुम वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना से ऊपर उठकर, जागतिक चेतना से उत्प्रेरित होकर अखिल विश्व को अपना बना लेते हो; उसके सुख-दुःख में अपनेपन की अनुभूति करते हो, तब तुम्हारा पापास्रव का द्वार बन्द हो जाता है।"

* * *

पाप से घृणा

जैन-धर्म कहता है कि मनुष्य-जाति अपने-आप में पवित्र है और सभी मनुष्य मूल में पवित्र हैं। जो भूलें हैं, गलतियाँ हैं, वही अपवित्र हैं। इस नाते वह दुराचारी से भी घृणा करना नहीं सिखलाता। उसने सिखाया है कि चोर से घृणा मत करो, किन्तु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा बुरा नहीं है। तुम्हारे अन्दर जो तत्त्व है, वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ तुम अपने में मानते हो, वही चोर में भी विद्यमान हैं। उसकी अच्छाइयाँ अगर चोरी के कारण छिप गई हैं, तो तुम अपनी अच्छाइयों को घृणा और द्वेष के कारण क्यों छिपाने का, दबाने का प्रयत्न करते हो? ऐसा करने से तुम्हारे अन्दर कोई पवित्रता नहीं आने की। हाँ, अगर तुम चोरी को बुरा समझोगे और चोर को घृणा की नहीं, किन्तु दया की दृष्टि से देखोगे, तो तुम में अवश्य ही पवित्रता जागेगी।

एक आदमी शराब पीता है और आपकी निगाह में वह खराब है, किन्तु कल शराब छोड़ देता है और सभ्यता, शिष्टता के मार्ग पर आ जाता है तथा अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है, तो वह आदर्श की दृष्टि से देखा जाता है या नहीं? जब वह बुराई को छोड़ देता है, तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। हाँ, शराब बुरी

चीज है, अतः वह कभी ठीक नहीं होने वाली है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ में हो या शूद्र के हाथ में हो, महल में रक्खी हो, या झोंपड़ी में हो, वह बुरी की बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नहीं है।

किन्तु, शराब पीना छोड़ कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर चोरी करना छोड़ देता है, तो पवित्र बन जाता है, दुराचारी दुराचार को त्याग कर पवित्र बन जाता है। जैनधर्म ने बताया कि तेरी घृणा व्यक्ति के गलत तरीकों पर बरसनी चाहिए, व्यक्ति की तरफ नहीं होनी चाहिए। चोर ने चोरी करना छोड़ दिया है, शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी दुराचार से दूर हो गया है; फिर भी अगर हम घृणा नहीं त्याग सकते, तो समझ लीजिए कि हम अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी घृणा का भाव उत्पन्न न होने दें। किन्तु दुर्भाग्य से समाज में आज अहिंसा की वह दृष्टि नहीं रही और ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं, जिनके लिए हमें संघर्ष करना पड़ता है।

* * *

संघ और परम्परा

संघ का महत्त्व

यदि आप ठीक तरह से गहराई में उतर कर जैन-धर्म के इतिहास को पढ़ेंगे, तो मालूम पड़ेगा कि वह व्यक्ति को नहीं, संघ को महत्त्व देता रहा है। वह सामूहिक चेतना को ही सदा महत्त्व देता आया है और सामूहिक विकास के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहा है तथा सामूहिक चेतना द्वारा ही समाज में सामाजिक क्रान्ति फैलाने में ही उसे सफलता मिली है।

भगवान् महावीर से लेकर आज तक के इतिहास को पढ़ेंगे, तो एक बात ध्यान में जरूर आएगी कि जब-जब जैन-धर्म केवल व्यक्ति-गत सम्मान को आगे लेकर चला है, जब-जब जैन-धर्म के आचार्य, साधु या कोई भी अपने ही महत्त्व को आंकने लगे और सामूहिक महत्त्व को आँखों से ओझल कर दिया, संघ की गौरव-गरिमा को भुला दिया; तब-तब उनका पतन हुआ—वे अपने ऊँचे आदर्श से नीचे उतरते गए हैं।

इसके विपरीत, जब-जब इस धर्म ने व्यक्ति से बढ़ कर संघ को महत्त्व दिया, संघ के सत्कार-सम्मान को अपना समझा तथा उसकी भलाई और बड़ाई को अपनी भलाई और बड़ाई समझा, तब-तब जैनधर्म ने अपना महत्त्वपूर्ण विकास किया है और विश्व-कल्याण की दिशा

में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। वह युग जैन-धर्म के विशाल महत्त्व का परिचायक रहा है।

हमारे यहाँ चारित्र को, ज्ञान, को, दर्शन और तपश्चर्या तथा व्यक्ति-गत साधना को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है; किन्तु हमारे बड़े-बड़े आचार्यों ने जीवन-सुधार की क्रियाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए भी प्रसंग-वश संघ के सत्कार-सम्मान के लिए, उसकी बिगड़ी दशा सुधारने के लिए अपनी व्यक्ति-गत साधना को भी किनारे डाल दिया।

जैन-जगती के ज्योतिर्धर आचार्य भद्रबाहु का युग हमारे सामने है। जब कि बारह वर्ष का दुष्काल भारत में फैला हुआ था और उसकी लपटों में जनता झुलस रही थी। उस स्थिति में महान् श्रमण-संघ भी कठिनाइयों में उलझ कर बिखर गया और उसके संत उस संकट-काल में विकारों और बुराइयों के शिकार होकर इधर-उधर चले गए। संकट बीतने पर जब वे जीवन के क्षेत्र को ठीक करने तथा बिखरी टूटी कड़ियों को जोड़ने और अपने को संघ-बद्ध करने के लिए इकट्ठे हुए, तो उन्हें आचार्य नहीं मिल सके। पता चला कि वे साधना कर रहे हैं। उनके पास एक संत गया और बोला कि आपको संघ याद कर रहा है। इस पर भद्रबाहु बोले कि मुझे व्यक्ति-गत साधना के कारण अवकाश नहीं है कि मैं वहाँ जाऊँ। तब सारे संघ ने मिलकर एक संत को भेज कर पुनः आचार्य से पुछवाया कि "संघ का कार्य महत्त्वपूर्ण है या व्यक्तिगत

साधना ? संघ इसका उत्तर चाहता है।" भिक्षु के प्रश्न को सुनकर आचार्य ने कहा—"मैं इसका उत्तर यहाँ न देकर संघ की बिगड़ी दशा को सुधार कर—उसका पुनर्गठन कर कार्य-रूप में ही दे सकता हूँ, बातों से नहीं। और उन्होंने साधना को छोड़ कर संघ के लिए पाटलीपुत्र आकर नये सिरे से संगठन की व्यवस्था कर, उसकी बिखरी कड़ियों को फिर से जोड़-कर उसे इस लायक बना दिया, जिससे वह विशाल जीवन के मैदान को पार करने में सफल हो गया और बाद में खूब फूला-फला।

* * *

बदलती हुई परम्पराएँ

धर्म के दो रूप होते हैं—बाह्य रूप और अन्तरंग रूप। बाह्य रूप का अर्थ है—क्रियाकाण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहन-सहन, और जीवन में जो कुछ भी बाह्य रूप से करते हैं, वह सब काम। अन्तरंग रूप अर्थात् वह भावना या या विचार, जिससे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने-आप में क्या पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारों से प्रेरित और प्रभावित है, उसमें जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर में धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरें कितनी

उठ रही हैं ? यह सब भीतर का रूप ही धर्म या अन्तरंग रूप कहलाता है।

और, जब यह अन्तरंग दृष्टिकोण विशुद्ध एवं वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरों के संसर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे होकर आत्मा के सर्वथा शुद्ध स्वाभाविक रूप के विचार की पवित्र भूमिका में पहुँच जाता है, तब वह निश्चय-धर्म कहलाता है।

बाह्य धर्म को व्यवहार-धर्म कहते हैं। उसके सम्बन्ध में जैनधर्म की धारणा है कि वह बदलता रहता है, स्थायी नहीं रहता। तीर्थंकर आते हैं और वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य रूप को तबदील कर देते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में साधुओं का रहन-सहन कुछ और रूप मे था और बाईस तीर्थंकरों के समय में बदल कर वह कुछ और रूप में हो गया। फिर भगवान् महावीर आए। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भगवान् पार्श्वनाथ के युग में प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये, जिनमें से कुछ हमें आज भी पढ़ने को मिलते हैं। जैसे—भगवान् ने वस्त्रों के संबंध में यह पाबंदी लगा दी कि साधु को सफेद रंग के ही वस्त्र पहनने चाहिएँ और वह भी अल्प मूल्य वाले ही होने चाहिएँ; जबकि उनसे पहले यह पाबंदी नहीं थी। फलतः भगवान् पार्श्वनाथ के जमाने

में साधु किसी भी रंग के वस्त्र पहन सकते थे। भगवान् महावीर ने न केवल वेष-भूषा के विषय में, बल्कि आहार और विहार के संबंध में भी अनेक परिवर्तन किये। जैसे— राज-पिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर अमुक अवधि से अधिक न रहना आदि।

भगवान् महावीर के युग में पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर के आचार अलग-अलग बतलाये गये हैं। कहा है:—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीउ सज्झायं।
—उत्तराध्ययन, २६/१२

साधु की दिनचर्या चार प्रहरों में बाँट दी गई थी। पहले प्रहर में स्वाध्याय करना अर्थात् पहला प्रहर सूत्र-स्वाध्याय में व्यतीत करना, दूसरा प्रहर उसके अर्थ का चिन्तन करने में, ध्यान में, तर्क-वितर्क में एवं जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को स्पष्ट रूप से सुलझाने में गुजारे। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्रपौरुषी' कहलाता था। यह सांकेतिक शब्द है। दुर्भाग्य से आज इन्हें भुला दिया गया है, छिटका दिया गया है। अतः इस शब्दावली का जो महत्त्व था, वह हमारे ध्यान से निकल गया है!

तीसरे प्रहर में साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के पीछे सिद्धान्त यह था कि साधु, गृहस्थ के घर जब जाए, तो ऐसी स्थिति में जाए कि घर के सब

लोग भोजन करके निवट चुके हों, बच्चे और बूढ़े खा-पी चुके हों, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो, उसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु जाए और उस बचे हुए भोजन में से अपनी जरूरत के मुताबिक थोड़ा सा ले आए।

जिस समय भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हों, उस समय साधु भिक्षा के लिए नहीं जाया करते थे। क्योंकि उस समय जाकर यदि साधु भिक्षा ले ले, तो सम्भव है, घर वालों के लिए कम पड़ जाय और फिर नये सिरे से बनाना या पकाना पड़े।

भगवान् महावीर के युग तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यम्भव के युग में क्या हुआ ? तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम सिमटने लगा। लोगों का रहन-सहन बदला। तीसरे प्रहर तक भोजन की स्थिति प्रायः नहीं रहती थी, अतः उस समय जाने से भिक्षा देने वाले को भी असुविधा होने लगी। गृहस्थ कहते—'भोजन के समय पर तो आते नहीं और समय बीत जाने पर आकर व्यर्थ ही हमें लज्जित करते हैं ! यह भी कोई गोचरी है !' जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो गई, तो आचार्यों को नया विधान बनाना पड़ा :—

अकालं च विवज्जित्ता, काले काल समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र - ५, २, ४

अर्थात् साधु को भोजन के समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए और गाँव की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। असमय में भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थों को अप्रीति होगी, उनके चित्त में क्षोभ और तिरस्कार जागेगा और स्वयं को भोजन न मिलने से साधु को भी गाँव वालों के प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न होगा। इस तरह दोनों ओर संकल्पों में गड़बड़ी होगी। इस विचारधारा से यह विधान जारी किया गया कि जिस गाँव में भोजन का जो समय हो, वही भिक्षा का समय रख लिया जाय!

इस प्रकार एक परिवर्तन आया। यह एक बड़ा परिवर्तन था। इस उदाहरण की परछाईं में हम देखते हैं कि धर्म के बाह्य रूपों में तीर्थंकरों के युग में भी, और आचार्यों के युग में भी परिवर्तन होते रहे हैं।

किन्तु, धर्म का अन्तरंग रूप ऐसा नहीं होता। उसमें कभी कुछ भी बदलने वाला नहीं है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यों-का-त्यों ही रहने वाला है। वह जैसा वर्तमान में है, भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। कितने ही तीर्थंकर आएँ, अन्तरंग में कुछ भी परिवर्तन होने वाला नहीं है।

प्रति वर्ष पतझड़ के मौसम में वृक्ष के फल, फूल, पत्ते, सब चले जाते हैं और पतझड़ के बाद वह फिर नवीन कोंपलों से सुहावने दिखाई देने लगते हैं। फिर उसमें फल-

फूल लगते हैं। वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड़ आती है और वह फिर ठूँठ-सा दिखाई देने लगता है। इस प्रकार वृक्ष बाहर में रूप बदलता रहता है अवश्य, मगर अपना मूल रूप नहीं बदलता। अगर वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाय, तो फिर फलों, फूलों और पत्तों के लिए वहाँ गुंजाइश कहाँ रहे ?

तो, सिद्धान्त यह निकला कि प्रत्येक अंग का एक स्थायी रूप रहना चाहिए और बाकी बदलता हुआ रूप रहना चाहिए। अगर स्थायी रूप न होगा, तो बदलने वाला रूप किस के सहारे रहेगा ?

इस प्रकार व्यवहार रूप में धर्म बदलता रहता है—उसे तीर्थंकर भी बदल देते हैं और आचार्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार बदल देते हैं। किन्तु, अन्तरंग धर्म कभी नहीं बदलता !

* * *

श्रद्धा का केन्द्रीकरण

आज जनता की श्रद्धा बिखर गई है। जब तक वह एक केन्द्र में इकट्ठी नहीं होगी, एक जगह स्थापित नहीं की जाएगी, वह धर्म के वृक्ष को पनपने नहीं देगी।

आज हमारी स्थिति यह है कि हम किसी एक आचार्य को अपना धर्म-नायक बनाकर अपनी श्रद्धा प्रकट नहीं कर

पाते और गिरोह बनाते जा रहे हैं—गिरोहों में से भी गिरोह बनते चले जाते हैं। अढ़ाई हजार वर्षों का जैन-संघ का इतिहास हमारी इस दुर्बलता का जीता-जागता इतिहास है। इस लम्बे काल में हम बिखेरने ही बिखेरने में रहे हैं। केन्द्रीकरण की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया और कदाचित् किसी ने ध्यान भी दिया हो, तो हम नहीं जानते कि उसका कोई कारगर नतीजा निकला हो। जैन-संघ का इतिहास तो यही बतलाता है कि हम बराबर विकेन्द्रीकरण करने में ही लगे रहे हैं और सम्प्रदायों, गणों और गच्छों के रूप में नये-नये गिरोह बनाते चले गए हैं।

यही कारण है कि आज जैन-संघ की किसी एक आचार्य के प्रति श्रद्धा नहीं रही है और सब अपने-अपने पक्ष को प्रबल बनाने का प्रयत्न करते हैं। समूचे जैन-संघ की श्रद्धा बिखर गई है। हम न एक गुरु के रहे हैं, न एक आचार्य के होकर रहे हैं। जो भी आचार्य हैं या साधु हैं, वे यही कहते हैं कि ले लो हमारी समकित! इस प्रकार एक साधु दूसरे साधु की समकित को भी समकित नहीं समझता! गजब का अंधेर है! एक या दो वर्ष दीक्षा लिए नहीं हुए, समझ कुछ आई नहीं है औरकहने लगे, लो मेरी समकित!

और, अबोध बच्चों को भी समकित दी जाती है। समकित क्या चीज है, यह न देने वाला जानता है और न लेने वाला ही जानता है। फिर भी आश्चर्य है कि देने

वाला दे देता है और लेने वाला ले लेता है। समकित भी मानो रोटी-पानी है। जिसने जब जिसे देना चाहा, तब दे दिया ! जैन-सिद्धान्त तो समकित के विषय में कुछ और ही बात बतलाता है। समकित आत्म-विशुद्धि से उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व मोहनीय और अनन्तानुबंधी कषाय के दूर होने से आविर्भूत होती है। वह वरदान या पुरस्कार में मिलने वाली चीज नहीं है। फिर भी आज वह देने और लेने की चीज रह गई है।

मैंने देखा—एक साधु थे, जिन्हें अपने तत्त्व-ज्ञान का बड़ा अभिमान था, किन्तु थे कोरे भद्राचार्य ! उन्होंने मुझसे कहा—"अजी, मैंने कितनों को ही तार दिया है।"

मैंने पूछा—"महाराज, कैसे तार दिया है आपने ?"

तब उन्होंने एक रजिस्टर दिखलाया। उस रजिस्टर को वे अपने साथ लिए फिरते थे। उसमें उनके द्वारा तिरे हुए भक्तों की सूची थी। सब के नाम-ठाम और पूरे पते लिखे थे। वह सूची दिखला कर वे बोले—"मैंने इतनों को समकित दे दी है।"

मैंने पूछा—"इनमें कितने जैन और कितने अजैन हैं ?"

उन्होंने कहा—"सभी जैन हैं।"

बच्चे गए और उनको कहानी या भजन सुनाए और समकित देना शुरू कर दिया। उन बच्चों को क्या पता कि तुमने धर्म का दान दे दिया है या शिष्य बना लिया है ?

ऐसी स्थिति में क्या काम आया वह समकित का देना ?

हाँ, किसी एक आचार्य के नाम की ही समकित दिलाई होती, तो संघैक्य की दृष्टि से कुछ-न-कुछ लाभ भी हो सकता था ! अपने-अपने नाम की समकित देने से वह लाभ भी तो नहीं हो पाता ! यह है आज की हमारी मनोदशा !

मैं एक जगह पहुँचा, तो मुझसे पूछा गया कि गाँवों में प्रचार किया या नहीं किया या नहीं किया ?"

मैंने कहा—"कैसा प्रचार ? प्रचार दो तरह का है—एक भगवान् महावीर का और दूसरा अपने-अपने व्यक्तित्व का। आप किस प्रचार की बात पूछ रहे हैं ?"

आजकल भगवान् का और भगवान् की वाणी का प्रचार होता है या नहीं, महावीर की महत्ता के दर्शन कराये जाते हैं या नहीं, यह तो किनारे रहा ; किन्तु अपने-अपने व्यक्तित्व का प्रचार जरूर किया जाता है।

गुरु साथ में हों, तब भी अपनी ओर श्रद्धा मोड़ने का प्रयास किया जाता है। अपनी महत्ता का प्रचार करने की कोशिश की जाती है। इस कारण जनता के अन्दर जीवन नहीं रहा है। जनता की श्रद्धा बिखर गई है और जनता में धर्म का सौरभ नहीं रहा है।

तो, जनता के जीवन में धर्म की सुगन्ध पैदा करने के लिए उसकी श्रद्धा का केन्द्रीकरण होना आवश्यक है। प्रत्येक साधु अपनी-अपनी प्रतिष्ठा का प्रचार न करे, अपनी

ओर जनता को मोड़ने का प्रयत्न न करे। इसके विपरीत, अगर केन्द्र की ओर उसके प्रयत्न मुड़ जाएँ, अगर वह व्यक्तिगत ख्याति-लाभ की इच्छा का त्याग कर दे, तो मैं समझता हूँ कि छोटा साधु भी महान् बन जाएगा। ऐसी दशा में उसकी प्रतिष्ठा की क्षति नहीं होगी, उसमें वृद्धि ही होगी।

मिट्टी का ढेला लेते हैं और उस पर सूत लपेट देते हैं, तो वह गणेशजी बन जाता है। इसी प्रकार यदि छोटे-से-छोटे साधु को आचार्य बना दिया जाय और उसके प्रति श्रद्धा अर्पित की जाय, तो वही महान् बन सकता है। हमारे यहाँ संस्कृत-भाषा में पुराने जमाने से कहावत चली आ रही है—

'अश्माऽपि याति देवत्वं, महद्भिः सुप्रतिष्ठितः।'

साधारण से पत्थर को जब बहुत लोग प्रतिष्ठा प्रदान करने लगते हैं, तो उसमें देवत्व आ जाता है; अर्थात् वह देव समझा जाने लगता है। देखते-देखते ठुकराया जाने वाला पाषाण भी जब जन-समूह की श्रद्धा-भक्ति पाकर देवत्व की महिमा प्राप्त कर लेता है, तो साधारण साधु भी संघ के द्वारा श्रद्धा समर्पित करने पर महान् क्यों नहीं बन जाएगा ? और इसके विपरीत, बड़े-से-बड़े ज्ञानी को आप आचार्य बना दें और सामूहिक रूप में उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति अर्पित न करें, तो कुछ भी न होगा ! वह ज्ञानी आचार्य भी

निस्तेज और प्रभाव-हीन ही साबित होगा !

किसी भी एक व्यक्ति में जब संघ का अखण्ड तेज केन्द्रित हो जाता है, तो वह महान् प्रभावशाली बन जाता है और उसका तेज इतना अधिक हो जाता है कि वह अकेले उसी व्यक्ति में नहीं समा पाता; उसकी प्रतिच्छाया सभी पर पड़ती है और उसका तेज संघ के प्रत्येक सदस्य को तेजस्वी बना देता है। संघ का तेज एकत्र पुंजीभूत होकर, सहस्र गुणा बढ़कर अत्यन्त शक्तिशाली बन जाता है और तब समग्र संघ को तेजोमय बना देने में समर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में, इतर लोगों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वे उसके प्रति अतिशय रूप से आकृष्ट होते हैं ?

आप ऊँचे सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी दूसरों के सामने फीके क्यों पड़ जाते हैं? कारण यही है कि दूसरों ने अपनी 'श्रद्धा को केन्द्रित किया है और आपने अपनी श्रद्धा को इधर-उधर बिखेर रक्खा है। वह श्रद्धा जब तक एक में केन्द्रित न होगी, संघ पनपने नहीं पाएगा।

कल्पना कीजिए, किसी ने एक बाग लगाया और जल की एक बूंद इस वृक्ष में तो दूसरी एक बूँद दूसरे वृक्ष में डाल दी, तो क्या वह बगीचा पनपेगा ? नहीं। हाँ, यदि अनेक नगण्य वृक्षों को एक-एक बूँद सींचने का मोह छोड़ कर इने-गिने चंद वृक्षों को ही लगाने का आदर्श रखा जाय

और उनको यथावश्यक जलधारा से सींचा जाय, तो वे वृक्ष पनपेंगे, फूलेंगे और फलेंगे।

एक आचार्य बनाकर यदि समग्र संघ, उनके चरणों में अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा अर्पण करेगा, तभी संगठन सफल होगा। इसके अतिरिक्त, एक आचार्य बना लेने पर भी यदि साधु अपने-अपने शिष्य अलग-अलग बनाते रहे, तो फिर अलग-अलग गुट बन जाएँगे। अतएव जो नये व्यक्ति दीक्षित हों, वे सब एक आचार्य के शिष्य हों, जिससे समूचे संघ की श्रद्धा एक जगह केन्द्रित हो और संघ फूले-फले !

* * *

संघ का कायाकल्प

जब झरना पर्वत से निकलता है, तो वह बिलकुल स्वच्छ और निर्मल रहता है; किन्तु ज्यों-ज्यों उसका क्षेत्र विशाल होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें विकृति का आना स्वाभाविक है। ऐसे ही जीवन की लम्बी यात्रा करने के कारण हमारे समाज और संघ के जीवन में भी कुछ विकृति का अंश आ गया है, जिसका कायाकल्प करना परम आवश्यक है।

एक बार मैं एक योगी से मिला था। कायाकल्प-सम्बन्धी वार्तालाप के बीच में उन्होंने मुझे बतलाया कि—"शास्त्र में यहां तक वर्णन मिलता है कि जड़ी-बूटी के प्रयोग

करने से पुराने बाल, चर्म, मांस आदि सब नष्ट हो जाते हैं; केवल हड्डियों का ढांचामात्र रह जाता है। उसमें फिर नये सिरे से बाल, मांस, चर्म आदि बनता है। किन्तु, मैंने यहाँ तक क्रियात्मक प्रयोग नहीं किया है। हाँ. श्वेत बालों तथा झुर्रियों का कायाकल्प करके जवान बनाने का रचनात्मक प्रयोग मैंने अवश्य किया है।"

उपर्युक्त बातों में तथ्यांश कहाँ तक है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मुझे तो इतना ही कहना है कि आज हमारा संघ भी वृद्ध हो गया है, उसके शरीर में भी झुर्रियाँ पड़ गई हैं। उसका हमें कायाकल्प करके नये जीवन का संचार करना है। उसके लिए पुराने विचारों तथा संस्कारों का मोह त्यागना होगा, फिर चाहे वे विचार एवं संस्कार सम्प्रदायवाद के रूप में हों, परम्परा के रूप में हों या किसी पंथ के रूप में हों। उनको तिलांजलि दिये बिना संघ का भविष्य उज्ज्वल-समुज्ज्वल नहीं हो सकता!

* * *

धर्म और परम्परा

कभी-कभी ऐसा होता है कि हम दूर की चीजों पर जल्दी नजर डाल लेते हैं, पर पास की चीजदेखने में असमर्थ रहते हैं। आंखें दूर-दूर की चीजें तो देख लेती हैं, पर नजदीक का उन पर लगाया हुआ सुरमा, नहीं देख पाती। यही हाल धर्म

है। धर्म को चलते हुए आज कितना समय बीत गया है? परन्तु, हम उसे शुद्ध रूप में देखना भूल गए हैं और धर्म के नाम पर कुछ दूसरी चीजें पकड़ ली हैं। असली धर्म, जो हमारे निकट था, जो हमारी आत्मा का गुण था, उसे हमने भुला दिया और बाह्य बातों में धर्म समझने लगे, जो हमारे लिए दूर की चीजें थीं। और अब बाह्य बातों में थोड़ा-सा परिवर्तन या रद्दोबदल करने की आवाज उठते ही हल्ला मच जाता है, मानो हमारा धर्म नष्ट हुआ जा रहा हो। ये बाह्य चीजें एक फोड़े की तरह हो गई हैं। एक बच्चे के हाथ में जब जहरीला फोड़ा हो जाता है, तो उससे हाथ सूज जाता है, डाक्टर जब चीरने लगता है, तो बच्चा चिल्लाता है। इसी तरह धर्म के अंग में कुछ फोड़े हो गए हैं, जिन्हें विचारक और क्रान्तिकारी लोग चीरने के लिए अपना प्रयोग करते हैं, तो समाज में हलचल-सी मच जाती है।

हम जब धर्म के सम्बन्ध में कुछ सोचते हैं, तो अपने-आपको बौना पाते हैं। धर्म की तो महान् ऊँचाइयाँ हैं, अनन्त-अनन्त जन्म तक हम उसकी ऊँचाइयों को पकड़ नहीं सकते। आज की परिस्थितियों में धर्म को हमने एक तंग गली में डाल रक्खा है, जिसमें कूड़ा-करकट जमा हो गया है। हमने सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि की परिभाषाएँ मनमानी बनाली हैं। अगर किसी ने अपनी परम्परा को

कपड़े पर पड़ी हुई धूल की तरह झाड़ दिया, तो समझ लिया जाता है कि इसकी समकित भाग गई है। उसे मिथ्यादृष्टि का फतवा बहुत जल्दी दिया जाता है। इस प्रकार का धर्म हो रहा है कि जरा-सा भी छू लिया कि वह गिरा ! यह क्या बातें हैं, कुछ समझ में नहीं आता ? जो धर्म दुनिया को आपसी झगड़ों से बचाने और शान्ति का संदेश देने आया था, वही थोड़ी-सी देर में हवा की तरह उड़ जाता हो, तो फिर धर्म किसे कहें ? धर्म की परिभाषा करते हुए हमारे महान् आचार्यों ने कहा था—

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः"

धर्म वही है, जो दुर्गति में पड़ती हुई आत्मा को उठाए; धर्म वही है, जो पतन के रास्ते से जाते हुए को बचाए। गिरना संसार है, और उठना मोक्ष है। जितने-जितने हम क्रोध, मान, माया, लोभ के अधीन होते हैं, उतने-उतने गिरते जाते हैं। जितने-जितने उक्त विकारों से मुक्त होते हैं, उतने-उतने ऊपर उठते हैं ! तात्पर्य यह है कि विकारों के गड्ढे में गिरना पाप है और उससे ऊपर उठना धर्म ! अतः जिसके द्वारा हम सामाजिक, राष्ट्रीय, और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊपर उठें, वह धर्म है। धर्म और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन तो वह है, जो धर्म के सहारे स्वयं भी उठे और साथ में समाज और राष्ट्र को भी ऊँचा

उठावे । हम अपने जीवन को धर्म के द्वारा ऊँचा उठाएँ, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, पंथों द्वारा नहीं ।

इसी तरह रीति-रिवाजों और परम्पराओं को ही धर्म मानकर चलना, ठीक नहीं । परम्पराएँ तो बदलती रहती हैं । एक तीर्थंकर की परम्परा दूसरे तीर्थंकर से भिन्न होती है । अगर ऐसा न माना जाय, तो पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा में मेल कैसे बैठेगा ? एक परम्परा रंगीन वस्त्र लेने का निषेध नहीं करती है और दूसरी श्वेत वस्त्रों का विधान करती है । एक परम्परा राज-पिंड लेना ठीक समझती है, दूसरी नहीं । एक परम्परा कहती है—प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना चाहिए, दूसरी कहती है, कोई जरूरत नहीं है रोज प्रतिक्रमण करने की । जब दोष लगें, तभी प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए । तीर्थंकरों की परम्परा में भी शासन-भेद होता है । शासन का अर्थ है शिक्षा । तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर देश-काल को देखकर शिक्षा में परिवर्तन कर देते हैं । जो यह समझते हैं कि तीर्थंकरों का शासन हमेशा एक रूप में ही रहता है, उनसे बढ़कर कोई बज्र मूर्ख नहीं । आज कल तो थोड़ा-सा भी परिवर्तन होते ही आप बौखला उठते हैं, आप समझते हैं, हमारा सर्वस्व लुट रहा है !

हमें समझना चाहिए कि परम्परा और धर्म अलग-अलग चीज़ें हैं । परम्परा शरीर है और धर्म है उसकी आत्मा ।

शरीर अलग है, आत्मा अलग है। रोग हो जाने पर फोड़ा हो जाने पर शरीर के अंग को तो काटा जाता है, पर आत्मा को नहीं। पैर में फोड़ा हो जाने पर कभी-कभी पैर कटवाना पड़ता है। किस लिए ? रक्षा के लिए। अगर उस समय पैर न काटा जाय, तो वह और सड़ जाय, उसमें कीड़े पड़ जायें और व्यक्ति कराहता हुआ अशान्ति-वश अपनी आत्मा को भी दुर्गति में ले डूबे। अतः शरीर की तब तक रक्षा की जाती है, जब तक आत्मा की उन्नति हो, धर्म का पालन उसके द्वारा हो। यही बात परम्परा के विषय में है। वह यदि धर्म के लिए फोड़े के रूप में है, तो उसे काटना पड़ता है, और वह धर्म को बढ़ाए, तो भले ही रहे।

जैन-धर्म परम्परा के क्षेत्र में तर्क की कैंची लेकर चलता है। आपने पनवाड़ी को देखा होगा। जिधर से पान गलता देखता है, उधर से पनवाड़ी झट कैंची लेकर उसे काट देता है। ऐसा करता है, तो उसकी पान की डलियाँ सुरक्षित रहती हैं। यदि गले-सड़े पान को न काटे, तो उसकी सारी-की-सारी डलियाँ सड़ कर खराब हो जायँ। जैन-धर्म भी पनवाड़ी की तरह है। वह भी जब देखता है कि अमुक परम्परा गल-सड़ गई है, तो उसे कतरना ही ठीक प्रतीत होता है।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आज के युग में शास्त्रों

की बातें करने वाले उन पर कितने चलते हैं? वे अपने खाने, पीने और साथ बैठने की बातों में तो सुधार कर लेते हैं, पर जहाँ संघ-हित की बातें आती हैं, वहाँ उनके शास्त्र आगे अड़ जाते हैं। पहले, तीसरे पहर में गोचरी के लिए जाते थे, आज वह परम्परा कहाँ गई? कहाँ गया वह 'एगभत्तं च भोअणं' (एक समय का भोजन)? आज तो एक दफ़ा ले आते हैं, और दो-दो, तीन-तीन बार खा लेने पर भी लोगों की आंखों में धूल झोंकते हैं। कहते हैं, लाना एक दफे है, खाना एक दफे नहीं। यह निरा दम्भ है। पहले ऊपर की मंजिल में साधु नहीं ठहरते थे, आज वह परम्परा कहाँ उड़ गई? हम एक दिन इन सब बातों को सामने लाएँगे और जब लाएँगे, तो आपको हमारी हर एक बात माननी पड़ेगी। और उन परम्पराओं को, जो हमारे धर्म के मार्ग में रोड़े अटकाती हैं, उन्हें तोड़ देंगे। पर वे पुरानी परम्पराएँ, जो धर्म का रूप लिए हुए हैं और धर्म को पनपाने वाली हैं, भले ही रहें। हमें उनसे कोई नुकसान नहीं है।

परम्पराएँ तो समय-समय पर बदलती रहती हैं, पर उनका मूल धर्म एक ही रहता है। परम्पराएँ बनती भी हैं और बिगड़ती भी हैं। शरीर का बदलना आप और हम रोक नहीं सकते। वह तो युगानुसार बदलेगा—जरूर बदलेगा। तेईसवें तीर्थंकर के समय में रंगीन वस्त्र लेते थे,

क्योंकि उनकी दृष्टि में चाहे रत्न कम्बल हो, चाहे साधारण वस्त्र—एक ही मूल्य रखता था। पर जब उनमें मोह बढ़ने लगा, आसक्ति की वृद्धि हो गई, तब भगवान् महावीर ने कहा—अब रंगीन वस्त्रों की जरूरत नहीं, क्योंकि अब उसके पहनने से फैशन की मनोवृत्ति हो जाती है। इसलिए केवल श्वेत वस्त्रों का विधान किया। पर उन्होंने उस सुधार के साथ यह नहीं कहा कि—मैंने जो परिवर्तन किया है, वह इसलिए कि रंगीन वस्त्र पहनना पाप था और सफेद वस्त्र पहनने में धर्म है। आधुनिक साधकों की मनोवृत्ति, उनकी भूमिका को देखकर मैंने विधान बदला है। इसी समाधान के अनुसार हम धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ें, तो समाज में परिवर्तन की माँग होते ही परिवर्तन कर सकेंगे। और आज के युग की मनोभूमिका के अनुसार विधान बना सकेंगे।

शास्त्रों को छपाना पहले निन्द्य और पाप गिना जाता था। दिगम्बर सम्प्रदाय में छपे हुए शास्त्रों को यदि मन्दिर में कहीं रख दिया जाता, तो उन्हें उठा कर गली में फेंक दिया जाता था। स्थानकवासी सम्प्रदाय के पूर्वजों ने भी छपे हुए शास्त्रों को छूने तक का निषेध कर दिया था और शास्त्रों के छपाने का तो बड़े जोरों से विरोध किया था। परन्तु, आज क्या हो रहा है ? कहाँ गई वह पूर्वजों की बनाई हुई परम्परा ? एक दिन साधुओं

को संस्कृत पढ़ने के पीछे दण्ड मिलता था, और संस्कृत पढ़ना एक तरह का पाप समझा जाता था। संस्कृत पढ़ने वाले को मिथ्यात्वी, श्रद्धा-भ्रष्ट, प्रायश्चित्ती कह कर पुकारा जाता था और उसे जहर के कड़वे घूँट पीने पड़ते थे। हमने संस्कृत पढ़ना शुरू किया, तो हमें याद है कि उस समय कितना संघर्ष और गालियाँ सहन करनी पड़ी थीं। पर, अब तो पहले जो विरोध करते थे, वे भी धड़ल्ले के साथ आज अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ा रहे हैं। मैंने उनमें से एक से पूछा कि "संस्कृत पढ़ना तो पाप था, इन्हें क्यों पढ़ा रहे हो?", तो उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, पाप तो है, पर क्या करें? संस्कृत पढ़े बिना इज्जत नहीं होती?" मैंने उनसे कहा—"तब तो आप दुहरा पाप कर रहे हैं। इज्जत के लिए संस्कृत पढ़ना एक तरह से दुनिया को धोखा देना है।"

मैं आपको पूछना चाहता हूँ, आज के युग में कौन ऐसा है, जिसने अपनी परम्परा में परिवर्तन न किया हो। छोटी-से-छोटी जातियों, पिछड़ी हुई कौमों के अन्दर भी बहुत गलत परम्पराएँ नष्ट हो रही हैं। युग जबरदस्त होता है। वह अपने-आप इन परम्पराओं को नेस्त-नाबूद कर देता है। मैं उन परम्पराओं पर चलने वालों को चुनौती देकर कह सकता हूं कि केवल इन गलत परम्पराओं के भरोसे वे जी नहीं सकेंगे, बड़ी-बड़ी परम्पराएँ बदली हैं

और बदलेंगी।

शास्त्र में वर्णन आया है कि साधु के पैर में यदि कांटा चुभ जाय और वह उससे नहीं निकले, तो साध्वी से निकलवा लें, परन्तु गृहस्थ से नहीं। इसी तरह साध्वी के पैर में कांटा लग जाय और वह उसे निकालने में असमर्थ हो, तो साधु से निकलवा ले, परन्तु गृहस्थी से नहीं। आज के युग में कौन इस परम्परा पर चलेगा? आज यदि साधु, साध्वी से उपर्युक्त सेवा ले, तो एक निन्दनीय और लोगों की दृष्टि मे घृणित चीज समझी जायगी। इसी तरह आप शास्त्र की कई बातों को देखेंगे, तो मालूम होगा कि आज वे कितनी बदल गई हैं? जीवन हमेशा बदलता जाता है। समय की गति-विधि को टाला नहीं जा सकता। वह परिवर्तन और क्रान्ति तो जरूर लाएगी! जो समय के साथ चलेगा, वही इस दुनिया में सफल हो सकेगा।

* * *

सत्य का गला न घोटिए

आज परिवार में, समाज में और संसार में गलत मान्यताएँ और बातें होती हैं, तो लोग चर्चा करते हैं कि गलत परम्पराएँ चल रही हैं। लोग खिन्न होते हैं और वेदना का अनुभव करते हैं? जब उनसे कहा जाता है कि आप उनका विरोध क्यों नहीं करते? तो झटपट 'किन्तु'

और 'परन्तु' लगने लगता है। विवाह-शादियों में अत्यधिक खर्च होता है और इससे हर परिवार को वेदना है; किन्तु जब चर्चा चलती है, तो कहा जाता है—"बात तो ठीक है, किन्तु क्या करें?"

साधु-समाज में भी कई गलत रूढ़ियाँ और परम्पराएँ चल रही हैं। जब उनके सम्बन्ध में बात कही जाती है, तो कहते हैं—"बात तो ठीक है साहब! किन्तु क्या करें?"

राष्ट्रीय चेतना में भी गड़बड़ है। राष्ट्र के नेताओं और कर्णधारों के साथ विचार करते हैं, तो वे भी यही कहते हैं—"बात तो ठीक है आपकी, परन्तु क्या करें?"

बस यही 'पर' सारी गड़बड़ियों की जड़ है। यह मानसिक असत्य और दुर्बलता का परिणाम है। यह 'पर' जब पक्षी के जीवन में लगते हैं, तो वह ऊपर आकाश में उड़ने लगता है; किन्तु जब वे 'पर' मनुष्य को लगते हैं, तो वह नीचे गिरने लगता है। यह 'पर' हमारे जीवन को ऊँचा नहीं उठने देता।

'पर' लगा देने का अर्थ यह होता है कि हम कुछ भी करने-धरनेको तैयार नहीं हैं। उस सत्य के लिए अन्तःकरण में जो जागृति होनी चाहिए, वह नहीं हुई है और सत्य को स्वीकार नहीं किया जा रहा है। कदाचित् स्वीकार किया भी जा रहा है, तो इस रूप में कि जीवन में उस सत्य का कोई मूल्य नहीं है। यानी ऐसे बच्चे को पैदा किया गया

है कि जिसे स्वयं जन्म देकर स्वयं ही तत्काल उसका गला घोट दिया गया है। इस रूप में जब आदमी कहता है कि बात तो सही है, ठीक है, किन्तु क्या किया जाय? तो इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य को जन्म देकर तत्काल ही उसका गला घोट दिया गया है। इसी दुर्बलता का परिणाम है कि जो सामाजिक क्रान्तियाँ आनी चाहिएँ, वे नहीं आ रही हैं। समाज में गलत मान्यताओं और परम्पराओं का एक प्रकार से घुन-सा लग गया है। समाज भीतर से खोखला होता जा रहा है। और यह सत्य का कितना अपमान हो रहा है!

* * *

जैन-संस्कृति की क्रान्तियाँ

पुराने युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह के समय बैल को ताजा मार कर उसका गीला, खून से भरा लाल चमड़ा वर-वधू को ओढ़ाया जाता था। परन्तु, जैनों को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था? इसका अनुसरण करने से तो अहिंसा-व्रत दूषित होता है। व्रतों के सामने रीति-रिवाजों का क्या मूल्य है? तो जैन इस रिवाज के लिए क्या करे? वैदिक परंपरा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और उन्होंने शायद इस चीज को धर्म का भी रूप दिया हो; परन्तु जैन लोग इस प्रथा को

स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्हें यह प्रथा अटपटी लगी। उन्होंने इसमें सम्यक्त्व और व्रत दोनों की हानि देखी। अतएव जैन-गृहस्थों ने और कई जैनाचार्यों ने उस हिंसापूर्ण परम्परा में संशोधन कर लिया। उन्होंने कहा—"गीला चमड़ा न ओढ़ाया जाय, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ़ लिया जाय, जिससे उस परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जाय और सम्यक्त्व में तथा व्रतों में दूषण भी न लगने पाए!

लाल कपड़ा प्रसन्नता का—अनुराग का द्योतक माना जाता है। जैनों ने जब से यह परम्परा चलाई, तभी से लाल कपड़े को विवाह में महत्त्व मिला। इस प्रकार जैनों ने रक्त से लथपथ चमड़े के बदले लाल कपड़ा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरों पर स्त्रियाँ लाल कपड़े पहनती हैं। जैनों ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बड़ी क्रान्ति की है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक देखना चाहें, तो 'गोभिल गृह्यसूत्र' में देख सकते हैं।

उसी युग में एक परम्परा और थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु, जब, जैन-धर्म का प्रचार बढ़ा, तो खोपड़ी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त हो गई। जैनधर्म के अनुसार उसके

स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित हुई। इस प्रकार जैनधर्म की बदौलत खोपड़ी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई, तब नारियल का दूसरा नाम 'श्रीफल' हो गया।

आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपड़ी की शक्ल का होता है वह मानव की सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नर-मुण्ड का प्रतीक और प्रतिनिधि है।

उस समय के जैनियों ने कहा—"खोपड़ी रखने से क्या लाभ है? खोपड़ी अपावन और अशोभन वस्तु है और जंगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से परम्परा का पालन भी हो जायगा और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जायगी।

इस प्रकार उस समय के जंगली रिवाज को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी-देवताओं के आगे मनुष्य की खोपड़ी चढ़ाई जाती थी! मैं समझता हूँ, जैनियों ने उस परम्परा को खत्म करके और इस नवीन परम्परा को कायम करके मानवीय वृत्ति को कायम किया है। जैनों ने नारियल के रूप में जो प्रतीक रक्खा, उसे अन्य धर्मावलम्बियों ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। तो जैनों के द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओं और परम्पराओं में सर्वत्र ही आप अहिंसा की स्फुरणा देखेंगे।

पुराने ज़माने में कई प्रकार के क्रियाकाण्ड प्रचलित थे।

यज्ञ और होम आदि के रूप में अनेक हिंसामय परम्पराएँ चल रही थीं और वैदिक सम्प्रदाय ने उन्हें धर्म का रूप दे रक्खा था। परन्तु जैनों ने उन्हें मानने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने व्यर्थ की हिंसा को कभी आश्रय नहीं दिया और न सम्यक्त्व की जड़ काटने वाली परम्परा को कभी पाला-पोसा। यही कारण है कि वैदिक सम्प्रदाय में आज भी श्राद्ध करने की परम्परा चल रही है, पर जैनों ने इसका विरोध किया है। उन्होंने कहा है, अगर तुम्हें दान करना हो, तो और तरह से कर सकते हो; किन्तु यह समझना कि यहाँ ब्राह्मणों को खिलाने-पिलाने से पितरों का पेट भर जायगा और देने से पितरों को मिल जायगा, एकदम मिथ्या समझ है। इसमें कोई तथ्य नहीं है। पिण्ड पितरों को पहुँच जाता है, इससे बढ़कर तर्कहीन कल्पना और क्या हो सकती है ?

तो, जैनों ने इस परम्परा में सम्यक्त्व की, सत्यनिष्ठा की जड़ कटती देखी और उसे कतई अस्वीकार कर दिया।

सारांश यह है कि परम्पराएँ बदलती रहती हैं और उनके लिए जैनधर्म एकान्त कोई विधि-विधान नहीं करता। वर्तमान आगमों में आपको कहीं भी ऐसी किसी परम्परा या रूढ़ि का विधान नहीं मिलेगा। जो तीनों कालों में सदा चलने वाली हो।

* * *

संघ क्यों नहीं पनपता ?

जब जैन-संघ के निर्माण का प्रश्न आता है, तो मैं देखता हूँ कि उसमें पुराने लबादे को ओढ़े हुए ही लोग आते हैं और संघ कायम कर लेते हैं। ऐसे लोगों से समाज का क्या भला हो सकता है ? और होता भी नहीं है। इसलिए समाज मे कोई प्रकाश और चमक उत्पन्न नहीं होती है और प्राण नहीं आते हैं। संघ कायम करने पर भी जब समाज में किसी स्फूर्ति-दायक नवीन चेतना का प्रकाश नहीं फैल पाता, नई चेतना का जागरण नहीं होता, तो ऐसा संघ कायम करने से क्या लाभ ? जब दस-पाँच आदमियों के मिलकर एक हो जाने पर उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह संसार-भर की काया-पलट कर सकती है; फिर हजारों की शक्ति में इतना बल क्यों नहीं होता कि वे विश्व का कल्याण कर सकें ? संसार को कल्याण के पथ पर आगे बढ़ा सकें।

हाँ तो, इस प्रश्न का उत्तर मैं केवल इन्हीं शब्दों में दे सकता हूँ कि जब तक उन पुराने लबादों से आपका मोह नहीं छूटेगा, पाँच सौ, चार सौ वर्षों से चले आने वाले आपके संस्कार नहीं बदलेंगे, तब तक समाज में किसी भी नवीन चेतना का प्रदुर्भाव नहीं होगा। समाज में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव नहीं होगा, तो संघ विश्व को कल्याण-

के पथ पर अग्रसर करने में भी असमर्थ रहेगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि आप नये विचार और नवीन चेतना लेकर संघ को बनाएँ और उसमें शामिल हों।

एक दिन एक सज्जन मुझे मिले और वैरागी के रूप में मिले। साधु बनने के उम्मीदवार बन कर मिले। कहने लगे—"महाराज, संसार का अनुभव मैंने कर लिया है। कहीं भी इस संसार में सुख नहीं। समूचा संसार दुःख का केन्द्र-स्थल है। इसलिए अब तो गुरु के चरणों में पड़े रहकर प्रभु से लौ लगानी है।"

उस समय मेरे साथ में और भी सन्त थे, उनमें से एक सन्त से मैंने कहा—"वैरागी तो कीमत वाला मिला है।" और इस बात को सुनकर मेरा साथी सन्त उस वैरागी से बोला—"दीक्षित होने के लिए तैयार हो? दूसरे साधु तो इस शुभ कार्य के लिए भी मुहूर्त देखते हैं; मगर मैं इस चक्कर में नहीं पड़ता। यहाँ पर तो प्रत्येक क्षण द्वार खुला हुआ है, कोई भी किसी भी क्षण प्रवेश करे। हम तो समझते हैं—

"जब तू जागे, तभी सवेरा।"

उस सन्त की इस बात को सुन कर वह वैरागी कहने लगा—"महाराज! मेरे पास एक छोटी-सी दुकान है, पहिले उसे बेच दूँ और तब आपके पास आऊँ, तो ठीक रहेगा।"

किन्तु मैंने कहा—"जब तुम संसार को ही छोड़ रहे हो, उस छोटी-सी या बड़ी-सी दूकान से ही क्यों मोह करते हो ? उसे किसी दूसरे को यूँ ही संभलना दो और चले आओ।"

वह कहने लगा—"महारज दो-चार हजार रुपये मुझे उससे मिल जायेंगे और उन रुपयों को मैं बैंक में जमा कर दूँगा। बस, तब आपके पास आऊँगा। न जाने बाद में कैसी मति बने ?"

उसकी इस बात को सुनकर मैं सोचने लगा—"यह व्यक्ति समझता है कि साधुत्व का पालन करना एक टेढ़ी खीर है। खांडे की धार पर चलने के समान है। इसीलिए वह सोचता है—"अगर साधुत्व का पालन न हो सका, तो वह दोबारा आकर अपनी पुड़िया को संभाल तो लेगा।"

देखिए, ये हैं वे साधु, जो साधना के क्षेत्र में आजकल आ रहे हैं। वास्तव में, इन लोगों के लिए संसार की सभी वस्तुएँ खारी नहीं हैं, केवल मनुष्य ही खारे हैं। माता, पिता, भाई, स्त्री, बाल, बच्चे और पास पड़ोसी ही लवण-समुद्र के समान हैं; मगर रुपये तो मीठे ही हैं। साधना का क्षेत्र कठिन-कठोर जान पड़ा, उसकी कठोरता न सह सके, तो लौट जायेंगे और बैंक में जमा रुपयों की सहायता से फिर नये सिरे से एक नई दुनिया बसा लेंगे। हाँ, तो पहिले से ही भागने की इच्छा रखने वाले सिपाही से

देश का क्या गौरव बढ़ सकता है ? अन्तर्द्वन्द्वों से घबड़ा जाने वाले साधु से साधना का मार्ग ठीक तरह तय हो नहीं सकता। वीरों का कौल तो कुछ दूसरा ही होता है—

'पुरजा-पुरजा कटि मरै, तोऊ न छांड़ै पैंड़ा।'

रण-क्षेत्र में जूझते हुए चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, मगर बाँके वीर रण-भूमि से भागते नहीं। भारतवर्ष के सर्वदा अपनी इस आन की रक्षा की है और देश के मस्तक को ऊँचा उठाया है।

वीर-श्रेष्ठ तो अपने कर्तव्य का पालन करना जानता है। आप भी अपने कर्तव्य का पालन कीजिए। भगोड़ों की तरह छिपने का स्थान खोजना कायरता है, इसलिए उस ओर मत जाओ।

* * *

व्यक्ति औरं राष्ट्र

१. राष्ट्रीय चेतना

२. भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता

३. नेता कौन ?

४. प्रजातन्त्र क्या है ?

५. एकला चलो रे !

राष्ट्रीय चेतना

एक युग था, जब व्यक्ति अपने-आप में ही सीमित था और अपने-आपको ही सब-कुछ समझता था। उसके समस्त विचार और प्रयत्न अपने लिए ही होते थे; उसकी सारी तैयारियाँ अपने-आपके लिए ही होती थीं।

इसके बाद व्यक्ति ने अपने-आप में से निकल कर बाहर बहना शुरू किया और परिवार के रूप में अपने को फैलाया। वह परिवार के रूप में एक इकाई को लेकर बैठ गया। जब परिवार की इकाई को लेकर बैठा, तो उसका ममत्व, स्नेह और सुख-दुःख भी परिवार की सीमाओं तक फैल गया। वह पहले अपने-आपके संबंध में ही विचार करता था, अब उसने परिवार के संबंध में सोचना शुरू किया। इस प्रकार मनुष्य को पारिवारिक रूप में विराट जीवन प्राप्त हुआ।

किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य इससे भी आगे बढ़ा। उसने अपने आस-पास के परिवारों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित किये और बाद में हजारों परिवारों को मिला कर समाज का रूप दिया गया। उस समय अपने सम्बन्ध में सोचने की जो स्थिति थी, वह परिवार के साथ में भी सोचने की हुई और फिर सारे समाज के सम्बन्ध में उसी दृष्टि से सोचा जाने लगा। मनुष्य में यह विचार-शक्ति उत्पन्न हुई कि

समाज के जो भी सुख-दुःख हैं, वही परिवार के और मेरे सुख-दुःख हैं। अर्थात् समाज के साथ परिवार का और परिवार के साथ मेरा सुख-दुःख अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। समाज सुखी है, तो परिवार सुखी है और परिवार सुखी है, तो व्यक्ति सुखी है। इस रूप में अपने सुख-दुःख, परिवार के सुख-दुःख और हजारों परिवारों के सुख-दुःख आपस में जुड़ गए, एकरूप हो गये।

इस प्रकार मनुष्य ने समाज के साथ रोना और हँसना सीखा। जब समाज के साथ रोने की आवश्यकता पड़ी, तो उसके आँसुओं के साथ अपने आँसू बहाने गया और समाज को खुशी हुई, तो वह भी खुशी मनाने लगा—समाज की मुस्कराहट के साथ व्यक्ति भी मुस्कराने लगा। इस रूप में समाज खड़ा हो गया और समाज के विकास के साथ मानवीय भावनाओं का भी विकास आरंभ हो गया।

जब तक परिवार और समाज का विकास नहीं हुआ था, व्यक्ति अपने-आपमें पूरा था—जो कुछ भी हुआ था, अपने-आप में ही परिसमाप्त था। अब वह समाज का एक अंग बन गया। जब समाज का अंग बन गया, तो उसने अपने और अपने परिवार के सम्बन्ध में ही सोचना बन्द करके समाज के सम्बन्ध में सोचना शुरू किया।

किन्तु, मनुष्य का चिंतन यहीं आकर समाप्त नहीं हो गया। उस समय के चिन्तनशील मनुष्यों ने कहा—"मानव,

यहीं तेरे विस्तार और विकास की समाप्ति नहीं है। तू चलते-चलते यहाँ तक आया है, किन्तु यहीं तेरे जीवन की भूमिका समाप्त नहीं हो रही है !"

और तब, अनेकों समाजों को मिलाकर एक राष्ट्र बनाने की कल्पना मनुष्य के सामने खड़ी थी। राष्ट्र कायम हुआ और मनुष्य ने छोटे-मोटे समाजों से निकल कर एक राष्ट्र के सम्बन्ध में सोचना शुरू किया। सारे राष्ट्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख और समूचे राष्ट्र के अभ्युदय को अपना अभ्युदय समझना शुरू किया। इस प्रकार हजारों परिवार और समाज राष्ट्र के रूप में एक हो गए।

किस प्रकार मनुष्य व्यष्टि से समष्टि के रूप की ओर अग्रसर हुआ, यह उस इतिहास की सामान्य-सी रूपरेखा है। इसके आधार पर हम आपसे आगे की बात कहना चाहते हैं।

यह जो राष्ट्रीय चेतना है, वह क्या कहीं बाहर से आई है ? क्या राष्ट्रीय चेतना की हवा कहीं दूसरी जगह से उड़ कर हम तक पहुँची है ? या भारत की यह चेतना स्वतन्त्र चेतना रही है ? अगर हम पुराने भारतवर्ष के इतिहास को देखते हैं, उस पर विचार करते हैं, अपनी पुरानी परम्पराओं को नहीं भूले हैं और पुराने इतिहास की कड़ियों को छूते रहे हैं, तो हम पाते हैं कि भारतवर्ष ने आज नहीं, दो सौ, चार सौ वर्षों पहले भी नहीं, किन्तु हजारों-लाखों वर्षों

पहले के युग में भी राष्ट्र के विषय में चिंतन और मनन करना शुरू कर दिया था और इस तथ्य को समझ लिया था कि राष्ट्र के अभ्युदय में व्यक्ति का अभ्युदय है और राष्ट्र के विनाश में व्यक्ति का विनाश है। हमारे पुराने सामूहिक एवं राष्ट्रीय आदर्शों में से एक आदर्श हमारे पास इस रूप में आया है—

"संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।"

मनुष्यो ! एक साथ चलो, एक साथ बोलो और तुम्हारे मन भी एक साथ सोचना प्रारम्भ करें।

* * *

भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता

आज भारत का नव निर्माण हो रहा है; किन्तु वह पाश्चात्य विचार-धारा से नहीं हो सकता। पश्चिम की संस्कृति लेकर और रहन-सहन लेकर और पाश्चात्य जगत् की आग लेकर क्या भारत का महल खड़ा किया जा सकता है ? सदियों से भारत पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में रहा है और उनके द्वारा शासित होता रहा है। पाश्चात्य संस्कार भारतीयों के मन में घर कर गये हैं। मगर, भारत की समस्याएँ उनसे हल नहीं हो सकतीं। भारत की अपनी संस्कृति है, अपने आदर्श हैं और अपने सोचने-विचारने के तरीके हैं। उन्हीं उज्ज्वल विचारों और पुराने आदर्शों के

आधार पर हम भारत का निर्माण कर सकते हैं। पाश्चात्य संकृति के भरोसे भारत का निर्माण करना चाहेंगे, तो नहीं होगा; क्योंकि भारत के हृदय में वह चीज ही नहीं है। जो चीज भीतर में नहीं है, वह ऊपर से डाली जायगी, तो पनप नहीं सकेगी। हम जो वना सकते हैं, वही वना सकते हैं और जो नहीं वना सकते, उसे अपनी अधिक-से-अधिक ताकत खर्च करके भी नहीं वना सकते।

क्या भारत के अन्दर एक-दूसरे के सुख-दुःख को समझने की कला नहीं है? क्या भारत के पास अपनी रोटी तलाश करने का कोई ढंग नहीं रहा है? क्या भारत में अपना मकान खड़ा करने की कला नहीं है? क्या हम भाई को भाई समझने की कला वाहर से लाएँगे? अजी नहीं, यह सव कलाएँ तो हमें लाखों वर्षों से प्राप्त हैं और उस समय से प्राप्त हैं, जव कि शेष संसार जंगलियों का जीवन विता रहा था।

इसी भारत में एक समय उच्च श्रेणी की राष्ट्रीयता थी; जव कि सम्राट् विक्रमादित्य यहां मौजूद थे और जिन्हें हुए दो हजार वर्ष वीत चुके हैं। जव सम्राट् विक्रमादित्य दरवार में वैठते थे, तो सोने के सिंहासन पर हीरे-जवाहरात के मुकुट पहन कर वैठते थे और ऐसे मालूम होते थे, जैसे कोई देवता या इन्द्र स्वर्ग से उतर कर आया हो। किन्तु, वही सम्राट् जव व्यक्तिगत जीवन

में होते, तो संसार-भर के दूत उन्हें देखकर हैरान हो जाते थे। उस समय वे एक साधारण चटाई पर बैठते थे। उनके सामने प्रश्न आया कि आप तो भारत के सम्राट् हैं और सोने के सिंहासन पर बैठने वाले हैं; फिर इस साधारण-सी चटाई पर क्यों बैठे हैं?" तब वे कहते—"सोने का सिंहासन प्रजा का सिंहासन है और यह चटाई मेरा व्यक्तिगत आसन है। जब प्रजाकीय जीवन गुजारता हूँ, तब सोने के सिंहासन पर बैठता हूँ, और जब पारिवारिक जीवन में होता हूँ, तो चटाई का व्यवहार करता हूँ। मेरे जीवन में, मेरे भाग्य में यही चटाई है।"

चन्द्रगुप्त के काल में चाणक्य भी, जो भारत का प्रधान मंत्री था, साधारण-सी झोंपड़ी में रहता था और उसमें मामूली-सी चटाई बिछा कर बैठा करता था। वह उसी झोंपड़ी से साम्राज्य का संचालन भी करता रहा और एक पाठशाला के अध्यापक के रूप में देश के नौनिहालों को ज्ञान का प्रकाश भी देता रहा।

भारत की राष्ट्रीयता का यह उज्ज्वल स्वरूप है। यहाँ व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं दिया, बल्कि प्रजा की समष्टि को महत्त्व दिया गया था!

किन्तु आज सदियों की पराधीनता के कारण प्रजा के मानस में राष्ट्रीयता की भावना धुंधली पड़ गई है। आज का व्यापारी सोचता है—"आज दस हजार रोकड़

में जमा हैं, तो कल एक हजार की वृद्धि और करनी है।" वह नहीं सोचता कि "पहले मनुष्य अपने लिए कमाता था, एक युग आया कि वह अपने परिवार के लिए कमाता रहा और फिर समाज के लिए कमाता रहा। किन्तु आज व्यापारी जो कमाई कर रहा है, जिसे वह अपनी निजी कमाई समझता है, वह तो वास्तव में राष्ट्र की कमाई है। मुझे उससे चिपक नहीं जाना चाहिए।" आज व्यापारियों को यही तथ्य समझना है और भारत के कृषक-वर्ग को तथा दूसरे वर्गों को भी यही सोचना है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति आज राष्ट्र के रूप में लानी है और राष्ट्र में जब तमाम वर्गों की शक्तियां पुंजीभूत हो जाएँगी; तब ही देश का अभ्युदय होगा।

कौन राष्ट्र बलवान् है? जिस राष्ट्र की प्रजा बलवान् है! कौन देश ऊँचा है? जिसकी प्रजा ऊँची है!

हिन्दुस्तान जमीन को नहीं कहते हैं। जमीन तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक है। राष्ट्र का वास्तविक अर्थ उस भूमि पर रहने वाली प्रजा है। अतएव प्रजा बलवान् है, तो राष्ट्र भी बलवान् बनेगा। यदि प्रजा स्वयं दुर्बल है और अपनी रोटी के लिए दूसरों का मुंह ताकती है, तो उसका राष्ट्र कभी ऊँचा नहीं उठ सकता।

*   *   *

भारत की पाचन-शक्ति

आज जो राष्ट्रीयता की बातें कर रहे हैं, मैं पूछता हूँ कि वे भारतवर्ष को क्या बनाना चाहते हैं? भारत की राष्ट्रीयता का क्या रूप है? भारत में जो अलग-अलग वर्ग और टुकड़े हैं, वे राष्ट्र हैं या भारत की जो समष्टि है, वह राष्ट्र है? भारत हिन्दुओं और मुसलमानों के रूप में रहता है। हिन्दुओं में जैन भी हैं और वैष्णव भी हैं और मुसलमानों में शिया भी हैं और सुन्नी भी हैं। इस रूप में भारतीय राष्ट्र के भी अनेक रूप हैं। तो फिर, भारत की राष्ट्रीयता हिन्दुओं के रूप में है या मुसलमानों के रूप में है? भारत तो सदियों से अनेक जातियों का एक राष्ट्र बना हुआ है। यहाँ अनेक धाराएँ आईं और भारत के मैदानों में बहती रही हैं। हमारी पाचन-शक्ति प्रबल रही और उसने यह काम किया कि जो भी दुःखी आए और जिनके कदम कहीं नहीं जमे, उनका भारत ने स्वागत किया। एक दिन हमारे यहाँ पारसी आए और रोटियों की तलाश में आए। और भारत माता की गोद में बालक बन गए। भारत ने उनको भी स्थान दिया। वे भी भारत माता की गोद में बच्चों की तरह फूले-फले।

और यह सब तो आज की पीढ़ियाँ हैं। इनकी बात छोड़ दीजिए। जो शक और हूण आदि भारत में आक्रमण-

कारी वन कर आए और भारत को रौंदने के लिए आए, वे क्या रौंद कर चले गए? नहीं। आपका इतिहास में विश्वास है, तो आपको मानना पड़ेगा कि भारत के आध्यात्मिक चिन्तन और राष्ट्रीय भावना की वदौलत उन सव को घुला कर अपने अन्दर मिला लिया गया। वे शक थे, तो कोई वात नहीं और हूण थे, तो भी चिंता नहीं। और आज वे सव यहीं मौजूद हैं। क्या आप वता सकते हैं कि वे कौन हैं? आज के भारतीयों में कौन शक और कौन हूण हैं? और जो ग्रीक आए थे, वे भी कहाँ हैं? वे भी हमारे अन्दर घुलमिल कर एकमेक हो गए हैं।

भारत तो वह वहती हुई नदी है कि जो भी नाले उसमें आकर मिले, उसने अपने ही रूप में सव को ढाल लिया। गंगा में जमुना मिली, तो वह भी उसी रूप में हो गई और आपके शहर का गंदा नाला मिल गया, तो वह भी कुछ दूर चलते ही गंगा वन गया। भारत की संस्कृति गंगा की वह धारा है कि जो भी उसमें पड़ा, गंगा वन गया।

तो, जव तक हमारा चिन्तन इस रूप में रहा और हमारे हाजमे में शक्ति रही, हम पचाते रहे, जीवन में घुलाते रहे और एकरूप देते रहे। किन्तु, दुर्भाग्य से जव हमारा चिन्तन गड़वड़ में पड़ गया, हमारा हाजमा दुरुस्त नहीं रहा और गंगा की धारा में वह तेज शक्ति न रह गई, तव जो विदेशी आए, वे अगल पड़े रहे। उनका

हाजमा बढ़ता गया और हमारा हाजमा दिन-दिन कम होता गया। विदेशियों को अपने में विलीन कर लेने की हमारी ताकत खत्म हो गई। हमने उनसे नफरत की, उन्हें गले से नहीं लगाया। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारे महान् देश का अंग-भंग हो गया। भारत, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान—इन दो टुकड़ों में बँट गया।

* * *

नेता कौन ?

जो विभिन्नता को एकरूप दे सके, जो अलग-अलग राहों पर भटकने वालों को एक राह पर ले जा सके तथा जिसकी आँखों का इशारा होते ही राष्ट्र की कोटि-कोटि जनता उसी ओर चल पड़े, वही नेता कहलाता है।

ऋग्वेद में एक पुरुष-सूक्त है, जिसमें नेता की महिमा का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने तो दूसरे रूप में उसका अर्थ किया है; किन्तु हम उससे मिलता-जुलता एक दूसरा ही अर्थ लेते हैं। वहाँ प्रसंग आता है—

> सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं सर्वतः स्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्।

वह पुरुष महापुरुष है, ईश्वर है, जिसके हजार सिर हैं, हजार नेत्र हैं और हजार पैर हैं। और सारे भूमण्डल को छूकर भी उसके दस अंगुल बाहर है।

वहाँ ईश्वर के लिए कहा गया है, पर हम विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि नेता के विषय में भी यह कथन सत्य के समीप ही है।

नेता वही होता है, जिसके हजार सिर होते हैं। अर्थात् जो वह सोचता है, हजारों सिर भी वही सोचने लगें और वही हरकत हर एक के मन में खड़खड़ाने लगे। तो इस रूप में राष्ट्र के जो विचारों का एकीकरण कर सकता है, जन-मानस का सही पथ-प्रदर्शन कर सकता है, वही सच्चा नेता है।

इस प्रकार नेता जिस दृष्टिकोण से देखे, हजारों उसी दृष्टिकोण से देखने लगें, उसे जो दिखाई दे, हजारों को वही दिखाई दे, हजारों उसके दृष्टिकोण को अपनाने लगे, तो समझना चाहिए कि उसमें नेतृत्व अंगड़ाई ले रहा है !

मनुष्य के शरीर में पैर तो दो ही होते हैं, किन्तु जिस राह पर नेता चलता है, हजारों कदम उसी पर चलने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार जो हजार पैर वाला है, वास्तव में वही नेता है।

ऐसा नेता सारे भूमण्डल को छू जाता है। जो गाँव का नेता है, वह सारे गाँव को छू जाता है, जो समाज का नेता है, वह सारे समाज को छू सकता है और यदि कोई राष्ट्र का नेता बना है, तो वह समग्र राष्ट्र को छू सकता है। समस्त जनता उसके संकेत पर चलती है, मगर वह उससे

दश अंगुल अलग रहता है। वह समाज में काम करता है, जनता की सेवा करता है, जनता के जीवन में घुल-मिल जाता है, जनता का समीकरण करता है, फिर भी वह उसके वैभव से दश अंगुल दूर रहता है। यहाँ पर दश अंगुल दूर रहने का अर्थ है—पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सुख अथवा संसार के वैभव से दूर रहना।

राष्ट्र का नेता राष्ट्र का निर्माण करता है, समाज का नेता समाज का निर्माण करता है, नगर का नेता नगर का और ग्राम का नेता ग्राम का निर्माण करता है। और इस तरह वह संसार का युगानुरूप नव निर्माण करता है।

* * *

भावना की गरीबी मिटाइए

देश की गरीबी को दूर करने के लिए पहिले भावना की गरीबी को दूर कीजिए, मन के विकार और दुर्बलता को नष्ट कीजिए। जब व्यक्ति के आचार-विचार दरिद्र हो जाते हैं, तो उसका गौरव उससे छीन लिया जाता है। अगर आप अपने गौरव को वापस बुलाना चाहते हैं, एक बार फिर समृद्धिशाली बनना चाहते हैं, तो अब भी भावनाओं की पवित्रता का विकास करो। व्यक्ति ही केवल बड़ा है, ऐसा सोचना छोड़कर उसके समूह को ही महत्ता दो। देश को

गौरवान्वित करने के लिए व्यक्ति और उसके समूह दोनों का ही शुद्धात्मा होना आवश्यक है। इस लिए आप अपने स्वजनों, पड़ौसियों आदि सभी को महत्त्व दीजिए। व्यक्ति से अधिक उस के समूह को, राष्ट्र को महत्त्व दीजिए। केवल अपनी सुख-सुविधा के विषय में सोचने के लिए तो जानवर ही वहुत हैं। मनुष्य जव बुद्धि-जीवी प्राणी है, उस में जव सव-कुछ समझ लेने की शक्ति है, तो अपनी सुख-सुविधा के साथ-साथ सभी की सुख-सुविधा और उत्थान की वात भी उसे सोचनी चाहिए। व्यक्ति के उत्थान में राष्ट्र का उत्थान है और राष्ट्र के उत्थान में व्यक्ति का। यदि आप यह दृष्टिकोण लेकर चलेंगे, तो व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का कल्याण होगा। और जव दोनों का कल्याण होगा, तो व्यक्ति और राष्ट्र के कल्याण के साथ-साथ समूचे विश्व का कल्याण होगा।

* * *

प्रजातंत्र क्या है ?

एक युग था, जव राजा, राजा था और प्रजा, प्रजा थी। हजारों-लाखों वर्षों तक इस प्रकार की हुकूमत रही है कि जिसमें राजा, राजा के रूपमें और प्रजा, प्रजा के रूप में रही है। किन्तु, अव भारत में प्रजातंत्र की लहर आयी है। यों तो भगवान् महावीर के युग में भी प्रजातंत्र की प्रणाली

थी, और भगवान् स्वयं वैशाली के प्रजातंत्र राज्य के एक राजकुमार थे। किन्तु, भारत में जब साम्राज्यवाद का रूप आया, तो प्रजातन्त्र-राज्य मिटा-मिटाकर साम्राज्यों में शरीर कर लिये गये। मगर अब फिर प्रजातन्त्र आया है, यों कहना चाहिए कि अभी उसकी नींव पड़ी है।

जब तक साम्राज्यवाद रहा, तब तक राजा मनचाही हुकूमत करता रहा और प्रजा को बोलने का अधिकार नहीं रहा। मगर अब वह बात नहीं है। प्रजातन्त्र का मतलब है, शासक और शासित के बीच में किसी प्रकार की दीवार न रहना। प्रजातन्त्र भी एक प्रकार का शासन है और प्रजा की शान्ति और सुविधा के लिए किसी न किसी प्रकार का शासन अनिवार्य है। बिना शासन के क्षण-भर भी काम नहीं चल सकता। और जब शासन होगा, तो उसका संचालन करने के लिए शासक भी होंगे। मगर, प्रजातन्त्र की विशिष्टता इस बात में है कि शासक प्रजा की इच्छा के अनुसार अर्थात् प्रजा के द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों के द्वारा बनाये हुए विधान और कानून के अनुसार ही शासन करते हैं। इस रूप में आज जो सरकार है, वह भी प्रजा है और प्रजा तो प्रजा है ही। वर्तमान में राष्ट्रपति भी प्रजा है और नेहरू तथा पंत भी प्रजा है। इन पर कोई अलग लेबिल नहीं लग गया है। यह बात नहीं है कि वे राजा हो गये हैं और प्रजा नहीं रहे हैं।

किसी को किसी के विवाह में जाना होता है, तो घर के सारे लोग नहीं जाते; किन्तु घर का एक व्यक्ति घर की तरफ से चला जाता है और यह समझ लिया जाता है कि सारा ही घर विवाह में शामिल है। इसी प्रकार हकूमत करने के लिए कुछ व्यक्तियों को भेज दिया जाता है और उन व्यक्तियों को ही सरकार कहते हैं। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति हकूमत नहीं करता है। और करे भी तो किस पर करे ? अतएव प्रजा योग्य व्यक्तियों को नियुक्त कर देती है और फिर उनकी हकूमत में रहती है। इस प्रकार शासक भी प्रजा है और शासित भी प्रजा ही है।

किसी युग मे तो तोपों से फैसला होता रहा है, किन्तु आज बड़ी-से-बड़ी हकूमत के फैसले भी कागज के पुर्जों से होते हैं। जो आगे पहुँचे हैं, आपके कागज के पुर्जों के बल पर ही तो पहुँचे हैं। और जब वे आपको पसंद नहीं होंगे, तब भी आपके कागज के पुर्जे उन्हें कुर्सी पर से हटा देंगे। अतएव आज की प्रजा और सरकार अलग-अलग नहीं है। यह नहीं है कि प्रजा के हाथ कुछ और है और सरकार के हाथ कुछ और है। सरकार को प्रजा के हित में और प्रजा को सरकार के हित में सोचना है। एक, दूसरे के सहयोग से ही काम चला सकता है। हाथ धोते हैं, तो एक अकेला हाथ अपने-आपको नहीं धो सकता। दोनों हाथ आपस मे मिलेंगे और दोनों धुल सकेंगे। इसी प्रकार सरकार की समस्या

प्रजा को और प्रजा की समस्या सरकार को हल करनी है। समझ रखना चाहिए कि अब दोनों अलग नहीं हैं। प्रजा और सरकार दोनों एक हैं।

*　　*　　*

समस्या का सही समाधान

आप देखते हैं कि संसार किस ओर कदम बढ़ाये जा रहा है? चारों ओर एक आग जल रही है। अशान्ति की आग सुलग रही है। उसमें कभी कोरिया जल उठता है, कभी इंडोनेशिया और कभी चीन जलने लगता है। ऐसी स्थिति में जिस देश में पार्थक्य की भावनाएँ जोर पकड़ती जा रही हों, वह देश कैसे सुरक्षित रह सकता है? सारी दुनिया में भूकम्प आये, तो क्या भारत सुरक्षित बच जायगा? आज सारा संसार एक इकाई का रूप ग्रहण करता जा रहा है। कोरिया में कोई गड़बड़ होती है, तो सारा संसार चौकन्ना हो उठता है। आपके खाने-पीने पर उसका असर होता है, व्यापार पर असर पड़ता है और आपके तमाम व्यवहारों पर उसका असर होता है। दुनिया के किसी भी कोने में युद्ध सुलगता है, तो आप उसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते।

ऐसी स्थिति में अगर आप भारत को जिन्दा रखना चाहते हैं और संसार के मैदान में अपनी राष्ट्रीयता कायम

रखना चाहते हैं, तो आपको तमाम इकाइयों को मिला कर एकरूपता लानी होगी, और अलग-अलग जातियों के रूप मे सोचना बंद कर देना होगा। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अमुक-अमुक वर्ग के रूप में सोचना बंद किये बिना भी आपका त्राण नहीं है। मजदूर, व्यापारी, किसान आदि के जो विभिन्न वर्ग हैं, उनके रूप में सोचने पर भी आप नहीं पनप सकते हैं।

इसके लिए यह आवश्यक है कि जिनको रोटी मिल रही है, उन्हें मिलती रहे और जिन्हें नहीं मिल रही है, उनके लिए रोटी की समुचित व्यवस्था की जाय। एक तरफ महल है और दूसरी तरफ झोंपड़ी है। आप विचार करें कि झोंपड़ी को महल के रूप में तवदील करने से झोंपड़ी सुरक्षित रहेगी या महल को झोंपड़ी बनाने से झोंपड़ी सुरक्षित रहेगी? मैं समझता हूँ, जब तक झोंपड़ी महल के रूप में तबदील न होगी, तब तक देश में शान्ति नहीं होनी है।

किसी ने दस अंधों को निमंत्रण दिया और भोजन केवल एक के लिए बनाया। जब दसों अंधे आकर बैठ गये, तो एक थाली में भोजन लाया गया। एक अंधे के सामने थाली रक्खी गई। उससे पूछा—"भोजन आ गया?" अंधे ने टटोल कर कहा—"हाँ आ गया।" और इसके बाद वही थाली दूसरे के सामने रख दी गई और फिर तीसरे, चौथे, और बारी-बारी से सब के सामने रख दी गई। इसके बाद

वह उठाली गई और चौके में रख दी गई। तब मालिक ने कहा—"अच्छा, अब जीमना शुरू करो।"

अंधों ने थाली की तरफ हाथ बढ़ाया, तो थाली गायब! इधर-उधर टटोला, मगर थाली का कहीं पता न लगा। जब थाली न मिली, तो एक अंधा दूसरे पर अविश्वास करने लगा। सोचने लगा—"अभी तो थाली टटोली थी और अभी-अभी कहां नदारद होगई?" नतीजा यह हुआ कि वे आपस में लड़ने लगे। मुक्केबाजी होने लगी, तो घर के मालिक ने कहा—"तुम सब नालायक हो, निकल जाओ यहाँ से।"

तो क्या देश की समस्या भी इसी रूप में हल होनी है? एक से छीना और दूसरे के सामने रख दिया और दूसरे से छीन कर तीसरे को दे दिया? समस्या का यह स्थायी हल नहीं है। अंधों की थालियों के हेर-फेर से भूख बुझने वाली नहीं है।

संभव है, आपके और मेरे विचारों में भेद हो; किन्तु यह निर्विवाद है कि आज देश गरीब है और चारों ओर हाहाकार है। हजारों-लाखों आदमियों को भर-पेट भोजन नहीं मिल रहा है। वे सुबह उठते हैं और दिन-भर घूमने के बाद रात्रि में भूखे ही सो जाते हैं। हजारों-लाखों बहिनों को तन ढाँपने को वस्त्र नहीं हैं। बच्चों को शिक्षा और औषधि नहीं मिल रही है। लोग एक किनारे से दूसरे किनारे तक कुत्तों की तरह भटकते फिरते हैं। यही हालत कायम

रहती है, तो देश की समस्या हल नहीं हो सकती। अतएव प्रत्येक देशवासी को एक के रूप में सोचना बंद करना होगा और समष्टि के रूप में सोचना शुरू करना होगा।

* *

राष्ट्र की आशा

देश के उठते हुए युवको! असफलताओं से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग है। तुम्हारा चेहरा विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चाहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हें हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द-से, डरपोक-से और उदास-से दिखाई देते हो? क्या पशुओं को कभी हँसते देखा है तुमने? मनुष्य को ही प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हें चलना है, रुकना नहीं है।

तुम्हारी मंजिल अभी दूर है। उस तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस और धैर्य रक्खो और आगे बढ़ते जाओ। नम्रता रखकर, विनय भाव रखकर और संयम रख कर चलो। अपने हृदय में कलुषित भावनाओं को प्रवेश मत करने दो। क्षण-भर के लिए भी हीनता का भाव मत लाओ। अपने महत्त्व को समझो। तुम देश के दीपक हो, जाति के आधार हो और समाज के निर्माता हो। राष्ट्र का

भविष्य तुम्हारे हाथों में है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का महान् कार्य तुमको ही करना है। तुम महान् हो और मानव-जाति के लिए तुम्हें अथक श्रम करना है। विद्यार्थी-जीवन तुम्हारी तैयारी का जीवन है।

हे विद्यार्थी ! तू अपने विराट जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रह। राष्ट्र के कोटि-कोटि नेत्र आशा लिये तेरी ओर ताक रहे हैं। तुझे अपने जीवन में समूचे राष्ट्र के लिए मंगल का अभिनव द्वार खोलना है। यही समझ कर तू अपने जीवन का निर्माण कर। तेरा कल्याण हो ! तेरी आशाएँ सफल हों !! तेरा भविष्य उज्ज्वल हो !!!

* * *

प्रान्तीयता का विष

देश के बटवारे से हमें शिक्षा लेनी चाहिए और भारत की राष्ट्रीयता के स्वरूप को सावधानी के साथ निश्चित करना चाहिए। अगर हम उदार भाव से राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्धारित करेंगे और भारत माता के प्रत्येक बालक को राष्ट्रीयता का अधिकार देने में कंजूसी न करेंगे और इस क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के जहर को प्रवेश न करने देंगे, तो हम उन महान् आत्माओं के प्रति, जिन्होंने भारत का सही दिशा में नेतृत्व किया है, वफादारी जाहिर करेंगे और श्रद्धाञ्जलि अर्पित करेंगे। और यदि

हम गलत राह पर चले गए, तो वह दिन दूर नहीं कि यह खण्डित देश और भी अनेक खण्डों में बँट जाएगा।

मैं उन गाँवों में भ्रमण करता हूँ, जहाँ अधिकांश बस्ती जाटों की है। वे सोई हुई चिनगारियाँ जाटिस्तान बनाने की मांग कर रही हैं। और उन्हीं गांवों में सिक्ख भी रहते हैं और उनमें कुछ को छोड़कर सारे-के-सारे आवाज बुलन्द कर रहे हैं कि सिक्खिस्तान बनाना चाहिए।

यही रहा, तो भारत की राष्ट्रीयता किस प्रकार पनप सकेगी ? जाटिस्तान, सिक्खिस्तान और द्राविड़स्तान आदि की जो भावनाएँ चल रही हैं, वे क्या देश को पनपने देंगी ? क्या इस प्रकार बँट-बँट कर और कट-कट कर हम कभी पनप सकेंगे ? कट-कट कर पनप सकते होते, तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ही पनप जाते ! मगर मालूम तो ऐसा होता है कि बँटवारे के बाद दोनों में से कोई भी सुखी नहीं है।

* * *

श्रम की प्रतिष्ठा

दुर्भाग्य से सब धर्मों में जहर के कीटाणु लग गये हैं और उन्होंने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया है कि जो लोग दूसरों को भी रोटी मुहय्या करते हैं, जो सर्दी और गर्मी सहन करके अपने जीवन को घुला देते हैं, जो सब से ज्यादा श्रम करके

उत्पादन करते हैं, उनकी प्रतिष्ठा को खत्म कर दिया! जब उनकी प्रतिष्ठा खत्म हो गई, तो उन्होंने भी समझ लिया कि हम हीन हैं, नीच हैं, बुरे हैं और पापी हैं और हमने पाप का काम ले लिया है! दूसरा वर्ग, जो विचारकों का था, धर्म और संस्कृति के नाम पर आगे बढ़ गया। कोई पैसे के बल पर आगे बढ़ गया और कोई बुद्धि के बल पर। उसने अपने-अपने दृष्टिकोण बना लिए और वह समाज में प्रभुत्व भोगने लगा। उसने समझ लिया कि उत्पादक वर्ग नीचा है और वह पाप कर रहा है। इस रूप में मजदूर और किसान गुनहगार हैं और महापापी हैं।

नतीजा यह हुआ कि किसान और श्रमिक लोग आज अपनी ही निगाहों में गिर गये हैं। उन्हें न अपने प्रति श्रद्धा है और न अपने धंधे के प्रति। उन्होंने प्रतिष्ठा के भाव खो दिये हैं। और वह महत्त्वपूर्ण पद, जो जनता की आँखों में ऊँचा होना चाहिए था, नीचा हो गया है और उस पद के विषय में किसी को रस नहीं रह गया है।

इस प्रकार की धारणाएँ जब तक बनी हैं, उत्पादन की समस्या हल होने वाली नहीं है। जिन वर्गों को आज आप नीचा समझ रहे हैं, उन्हें नीचा समझना छोड़ दीजिए और उनके मन में उत्साह पैदा कीजिए कि वे बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं और जनता के लिए रोटियाँ पैदा कर रहे हैं। महल में विलास करने वाले 'अन्नदाता' अब नहीं रहे। उनका

आसन खाली हो गया है। उनकी जगह 'अन्नदाता' के रूप में कृषकों की प्रतिष्ठा कीजिए, जो सही अर्थ में अन्नदाता हैं। जो अन्न के रूप में आपको जीवन दे रहे हैं, उन्हें महापापी और नीच समझना छोड़ कर जीवन-दाता समझिए। अगर आपके मन में, उनके लिए प्रतिष्ठा और इज्जत की भावना उत्पन्न नहीं होती, तो कोई काम बनने वाला नहीं है और 'अन्न उपजाओ' के नारे व्यर्थ ही साबित होंगे।

* * *

पुरुपार्थवाद

देवताओं से तो भावनाएँ और प्रेरणाएँ ली जाती हैं। पर कर्तव्य स्वयं करना होता है। सोना-चांदी देवता नहीं बरसाते। सोने-चांदी की वर्षा तो मानव के ये हाथ बरसाएँगे! जन-कल्याण की जीवित भावना लेकर जब आप के हाथ आगे बढ़ेंगे, तो भारत के लम्बे-चौड़े मैदान लहलहाते नजर आएँगे। आप तो स्वयं सिंहासन पर बैठ जाएँ, हाथ-पैर कुछ न हिलाएँ और ऊपर को आँख उठाए आशा-भरी दृष्टि से देखते रहें कि कोई आएगा और हमारे राष्ट्र के वीरान मैदानों को हरा-भरा कर जाएगा—ऐसी दरिद्र विचार-धारा के धनी जाहिल और बुजदिल कभी देश का उत्थान नहीं कर सकते।

महाभारत में वर्णन आता है कि जब धर्मराज युधिष्ठर ने राज्य प्राप्त कर लिया, तो एक दिन नारद आकर बोले "राजन्! तुम्हारा राज्य किस के भरोसे चल रहा है? देवी-देवता के भरोसे पर चलता है या आपके पुरुषार्थ, कर्म तथा जन-हित की कल्याणी भावना के आधार पर चलता है?" युधिष्ठिर ने गम्भीर स्वर में उत्तर देते हुए कहा "ऋषिराज! हम देवी-देवताओं के ऊपर जिन्दा नहीं रहते। वर्षा के लिए इन्द्र की मनौती नहीं करते। अपने कर्मठ हाथों से देश के लिए अच्छे-से-अच्छे साधन जुटा कर सिंचाई का प्रबन्ध करते हैं, जिससे वर्षा के अभाव में भी हमारे देश के मैदान हरी-भरी खेती से लहलहाते रहते हैं।

इस सप्राण आदर्श को लेकर जब राष्ट्र का छोटा-बड़ा हर एक पुर्जा कुछ कर गुरजने की जीवित भावना से अनुप्राणित होकर आगे बढ़ेगा; अपने भगवद्-रूपी हाथों पर निर्भर होकर चलेगा, तभी भारतवर्ष के रेगिस्तान हरियाली के रूप में बदल सकेंगे!

* * *

विचारों का बौनापन

प्रत्येक महापुरुष राष्ट्र-हित के लिए अन्धकार से संघर्ष लेता आया है। अतः वह समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति है। परन्तु, भारत का दुर्भाग्य यह रहा है कि कुछ, धुंधले मन-मस्तिष्क और कमजोर मन वालों ने आगे चल कर महापुरुषों में भी बंटवारा शुरू कर दिया। "ये हमारे और यह तुम्हारे" का भेद-भरा और संकीर्ण नारा लगा कर उन विराट आत्माओं को भी हमने क्षुद्र घेरों के अन्दर बंद कर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे विचारों का धरातल बहुत छोटा हो गया है।

जब एक भारतीय युवक अमेरिका से डॉक्टरेट कर के लौटे और मुझ से मिले, तो बात-चीत के दौरान में उसने मुझे बतलाया कि "अमेरिका में तो आदमी के कद को भी ऊँचा बनाया जा रहा है। प्रारम्भ से ही वेष-भूषा आदि कुछ ऐसे साधनों का प्रयोग किया जाता है, जिस से उनका कद छोटा नहीं रह पाता। परन्तु इधर भारत के शरीर का कद छोटा होता जा रहा है।"

मैंने कहा—"शरीर का कद छोटा होता जा रहा है, यह भी एक कमजोरी है। परन्तु, इसके साथ-साथ यदि विचारों का कद छोटा हो गया, तो विनाश के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है। शरीर कितना भी बौना बन

जाए, उसमें भी विराट रूप बना कर सारी पृथ्वी को तीन डग में नापा जा सकता है। परन्तु कब ? जब हमारे सोचने-समझने का, विचारों का स्तर ऊँचा हो।

एक दिन भारत के महान् ऋषियों ने ऊर्ध्ववाहु होकर हमें विराट और विशाल बनने का महा मार्ग दिखलाया था-

अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह हमारा है, और यह पराया है—ऐसी विचारणा छोटे मन वालों की होती है। आपको ठोकर लगी, तो रोकर भाग खड़े हुए। पर, दूसरों की गर्दन पर छुरी भी चल जाए, तो आप मुस्कराते रहें। आपको भूख लगे, तो सुबह से शाम तक खाते ही रहें, यहाँ तक कि बिस्तरे पर लेट कर भी थैले में एक गिलास गरम-गरम दूध का और उँडेल लें। किसी दिन एक रोटी भी कम खाई, तो माँ पूछती है—"क्या बात है, आज तो कुछ खाया ही नहीं ?" पत्नी कहती है—"क्या हो गया, भूख क्यों नहीं लगी ? जरा-सा और खालो।" भला एक रोटी कम खाली, तो कौन-सा तूफान आ गया ? लेकिन अगर पड़ौस में ही किसी गरीब का लड़का बीमारी से कराह रहा हो ! अभाव के कारण न डाक्टर का प्रबन्ध हो, न दवा का और न पथ्य के रूप में एक गिलास दूध का। वह अभाव में घुल-घुल कर मर रहा हो, तो भी उसकी आहों का मन पर कोई असर नहीं होता। क्यों नहीं

होता ? क्यों कि वह पराया है। हाय ! आज "वसुधैव कुटुम्बकम्" की कैसी दुर्गति है कि पड़ौसी की दुरवस्था को देखते हुए भी नहीं देख सकते ! उसके आर्तनाद को सुनते हुए भी नहीं सुन सकते !

आज भारत का दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और संकीर्ण हो गया है। उसकी बात-बात पर तंग-दिली की मुहर लग गई है। यह हमारी जाति का है, यह हमारी सम्प्रदाय का है, यह हमारी पार्टी का है—ऐसा सोचने का उसका ढंग बन गया है। आज तो वोट भी जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर और सम्प्रदाय के नाम पर माँगे जा रहे हैं। हाय ! कैसी विडम्बना यह है ! यहाँ धर्म, जाति तथा सम्प्रदाय देखे जाते हैं, योग्यता और ईमानदारी की तो कहीं पूछ ही नहीं रही। ये कागज के क्षुद्र टुकड़े आज हमारे भाग्य का फैसला करने के लिए तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। जनतन्त्र की दृष्टि से चुनाव एक बहुत अच्छी एवं ऊंची चीज है। परन्तु अयोग्य हाथों में पड़ कर अच्छी चीज भी खराब हो जाती है। भारतीय जन-जीवन की भूमिका इतनी ऊँची नहीं है कि वह उसका सही उपयोग कर सके। यह तो बन्दर के हाथ में तलवार दे दी गई है; न मालूम वह कब क्या कर दे ?

* * *

जोश के साथ होश भी चाहिए

मैं खास तौर से नवयुवकों से कहूँगा कि भारत का भविष्य आप लोगों से ही चमकने वाला है। अब तक जो हुआ, सो हुआ। पर जो आगामी है, उसके विधाता आप हैं। देश को बनाना और बिगाड़ना आपके ऊपर निर्भर है। आपके अन्दर जोश है, वीरता की भावना है, लड़ने की शक्ति है, तो हम आपकी कद्र करेंगे। मगर जोश के साथ होश भी आना चाहिए। इसके बिना काम नहीं चलेगा। मुझे कांग्रेस के एक अन्तरंग सज्जन ने बतलाया था कि एक बार गांधीजी ने कहा—"तुम्हारे भीतर जोश है। तुम देश का निर्माण करोगे। पर इस बूढ़े के होश की भी तो जरूरत पड़ेगी न?" जब जोश और होश दोनों का सामंजस्य होता है, तभी जीवन का सही तौर पर निर्माण होता है। होश हो, पर जोश न हो, काम करने की क्षमता न हो, जीवन लड़खड़ाता हो, हँसता हुआ न हो, तो देश का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जोश तो हो, मगर होश न हो, काम करने की शक्ति हो, मगर उचित समझदारी न हो, तो वह कोरा जोश आपको और आपके देश को भी ले डूबेगा। जोश आगे बढ़ने वाला कदम है, तो होश रास्ता दिखलाने वाला नेत्र है।

जोश के साथ होश किस रूप में आना चाहिए? आप

अपनी और साथ ही दूसरों की भी भूमिका को समझने की कोशिश कीजिए। बच्चे की, बूढ़े की, विद्यार्थी की और अध्यापक की अलग-अलग भूमिका है। उन सब भूमिकाओं को मिटा कर एक मंच नहीं बनाया जा सकता। जीवन-व्यवहार में कदम-कदम पर झुक कर चलना होता है। आप दूसरों को झुकाना चाहेंगे, तो आपको भी झुकना पड़ेगा। जीवन में यह लचक आनी ही चाहिए। इसी लचक से जीवन का निर्माण होगा। जिस जीवन में लचक नहीं, वह भंग हो जायगा। पर लचकने वाला लचक कर फिर ज्यों-का-त्यों हो जायगा। लचकीले जीवन में अवसर आने पर लचक आ जाती है और वह पुनः स्प्रिंग की तरह अपनी सतह पर आ जाता है।

* * *

शक्ति का चमत्कार

कोई भी समाज अथवा राष्ट्र अपने-आप ही बनता है, ऊँचा उठता है, फूलता-फलता है।, किसी राष्ट्र में यदि अन्दर शक्ति नहीं, तो कोई भी बाहर की शक्ति, धर्म, ईश्वर या परमात्मा उसे नहीं उठा सकता।

बीज में यदि जीवन-शक्ति है। और जमीन में गड़ कर भी वह उभरना जानता है, तो मिट्टी में दबा देने पर भी वह दबा नहीं रहता है। नया जीवन लेकर वह बाहर आता

है। उसे मिट्टी भी कहती है"—उभर, उभर, वढ़, वढ़ !" और पानी की धारा भी कहती है—"मैं भी सेवा में उपस्थित हूँ। आपको वढ़ाने में सहायता करने आई हूं।" सूर्य की किरणें भी कहती हैं—"हम आपको वढ़ाने आई हैं।" हवा का झौंका कहता है—"वढ़े जाओ, मैं आपको सहलाने आया हूँ, आपको पंखा कर रहा हूँ।"

मगर यह सव सहायक मिलते तभी हैं, जव वीज में जीवन-शक्ति होती है। जीवन-शक्ति के रहते प्रत्येक साधन वीज को ऊपर लाने और वढ़ाने में जुट जाता है। एक दिन वह ऊपर आता है और वृक्ष का रूप धारण करके फूलता और फलता है और सैंकड़ों वर्षों तक संसार को अपने फल देता रहता है।

किन्तु वीज यदि सड़ा हो, उसमें जिंदगी न हो और प्राण न हों, तो क्या होगा ? उस वीज को जमीन में गाड़ोगे, तो ऊपर आ जायगा ? कभी नहीं। मिट्टी उससे कहेगी—"मैं तुझे गलाती हूँ।" पानी कहेगा—"ले, मैं तुझे सड़ाता हूँ।" हवा कहेगी—"मैं तुझे सुखाती हूँ।" सूर्य की गर्मी कहेगी—"ठहर जा, मैं तुझे भून कर रख दूँगी।"

वही की वही चीजें हैं, किन्तु जिन्दा वीज के लिए वे उपहार वन जाती हैं और मुर्दा-जीवन शक्तिहीन वीज के लिए वही संहार-रूप हो जाती हैं। इस उदाहरण से हमें साधन के वल का पता लग जाता है। यह मत समझो कि

जिसके पास साधन है, वही बनेगा। यदि आप में जीवन है, तो सब-कुछ बनेगा। जीवन नहीं है और शक्तियाँ नहीं हैं, तो कुछ भी बनने वाला नहीं है।

दीपक की एक नन्ही-सी लौ चमकने की कोशिश करती है, किन्तु हवा का झोंका आता है और बुझा कर भाग जाता है और जब वनमें दावानल सुलगता है, तो क्या होता है? वही हवा का झोंका उसे विराट रूप देता है और कहता है कि मैं तेरे साथ हूँ। कहो, जो हवा दीपक को बुझा गई थी, वही वन में लगी आग को एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला देती है। वह दावानल का सहायक बन जाती है।

इन्सानी दुनिया में भी यही बात है। यदि किसी में इन्सानी जिन्दगी जिन्दा है और वह अच्छाइयों के लिए जुट जाय, तो ऊपर उठ सकता है, किन्तु जिसमें प्राण नहीं, उत्साह नहीं, साहस नहीं और संसार में जीवित रहने की कला नहीं, उसके लिए वही साधन और संसार की चीजें उलटा रूप ग्रहण कर लेती हैं और उसके विनाश का कारण बन जाती हैं।

* * *

राष्ट्रीय दुर्बलता

हमारे देश में कोई सभा-सोसाइटी होती है या किसी का प्रवचन होता है, तो क्या देखते हैं ? जनता को सूचना देते समय सोचा जाता है कि लिखे समय पर तो लोग आएँगे नहीं, अतएव आठ बजे कार्य प्रारंभ करना है, तो साढ़े सात बजे का समय लिखा जाय। जनता भी मन में समझती है कि साढ़े सात का समय लिखा गया है, तो आठ, साढ़े आठ से पहले क्या काम आरम्भ होने वाला है ? वह उसी समय पर आती है और उसी समय पर वास्तव में कार्य प्रारम्भ होता है। कोई भला आदमी नियत समय पर आता है, तो देखता है कि साढ़े सात बज चुकने पर भी सभा का कोई सिलसिला नजर नहीं आता। इस प्रकार सभा के संयोजक जनता को धोखा देने की चेष्टा करते हैं। उनमें पहले ही असत्य ने अपनी जगह ले ली है। इस व्यापक अप्रामाणिकता को देख कर अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय समाज का जीवन किस प्रकार असत्य से ओत-प्रोत हो रहा है।

पाश्चात्य देशों के साथ भारत का बहुत सम्पर्क रहा है और आज विज्ञान की बदौलत प्रत्येक देश का अन्य देशों के साथ सन्निकट का सम्बन्ध हो गया है। जो विदेशी

भारत में इतने वर्ष रह गये, उनकी संस्कृति आज भी चमक रही है। उनमें एक वड़ा गुण यह था कि वे समय के वहुत पाबंद थे। वे जो समय दे देंगे, उसी पर आएँगे। आठ वजे का समय नियत किया गया है, तो आप देखेंगे कि ठीक समय से चार-पाँच मिनट पहले सारा सभा-हॉल खाली दिखाई देता था और इन वीच के चंद मिनटों में वह खचाखच भर जाता है। हजारों मन और हजारों कदम एक साथ दौड़ते हैं। ठीक समय पर समाप्त हो जाता है। चार-पाँच मिनट वाद सभा-हॉल फिर ज्यों-का-त्यों सुनसान दिखाई पड़ता है। सव अपने-अपने काम में लग जाते हैं।

पाश्चात्य लोगों की यह व्यवस्था है! चिर काल उनके सम्पर्क में रहने के वाद भी हम समय की वह पावन्दी नहीं सीख पाये। हमने उनके इस गुण की नकल नहीं की! नकल की भी, तो उनकी वेप-भूपा की और वोली की या रहन-सहन की। इन वातों में साधारण आदमी भी उनकी नकल करके अँगरेज वनने में अपनी शान समझने लगा। इसी प्रकार उनके खान-पान और आमोद-प्रमोद को अपनाने का प्रयत्न किया गया, जिनकी हमें आवश्यकता नहीं थी। उनकी अच्छाइयाँ भारतवासियों ने नहीं सीखीं। उनकी वुराइयाँ, जो इस देश के दृष्टि-कोण से वुराइयाँ हैं, गौरव के साथ सीख ली गईं।

* * *

एकला चलो रे !

आप इस तथ्य को भूल न जाएँ कि समाज और राष्ट्र का निर्माण व्यक्तियों से होता है। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है और राष्ट्र है। व्यक्तियों के गुण और अवगुण ही समाज एवं राष्ट्र के गुण और अवगुण कहलाते हैं। व्यक्तियों की निर्बलता ही राष्ट्र की निर्बलता है और व्यक्तियों की सचाई ही राष्ट्र की सचाई है। व्यक्तियों के निर्माण में ही समाज, राष्ट्र और विश्व का भी निर्माण निहित है। अतएव अगर आप अपना और अपने पड़ौसी का जीवन-निर्माण करते हैं, तो समाज और राष्ट्र के एक अङ्ग का निर्माण करते हैं।

आप इस बात को भूल जाइए कि राजा या राजनीतिज्ञ क्या कर रहे हैं? समाज के नेता किस सीमा तक असत्य का आचरण कर रहे हैं? उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दीजिए। आप अपने ही जीवन के निर्माण में लग जाइए। आप सत्य का आचरण करने का अटल संकल्प कर लीजिए। अगर आपने ऐसा किया, तो आपका पड़ौसी, आपका मुहल्ला, आपका गाँव, आपका राष्ट्र भी धीरे-धीरे आपका अनुकरण करने लगेगा।

कदाचित् ऐसा न हो और आप अकेले ही अपनी राह पर हों, तो भी डगमगाने की आवश्यकता नहीं। जिस

पथ को आपने प्रशस्त समझ कर अपनाया है, उस पर अकेले चलने में भी क्या हर्ज है ? कौन-सा खतरा है ?

व्यापार में धन कमाने की बात आती है, तो लोग सोचते हैं, अकेले मुझको ही मुनाफा हो। जब उसे अकेले को मुनाफा होता है, तो उसकी खुशी का पार नहीं रहता। औरों को मुनाफा होता है, तो उसे अधिक खुशी नहीं होती। मगर जहाँ धर्म के आचरण का प्रश्न आता है, तो वही कहता है—"मैं अकेला ही धर्म का आचरण क्यों करूँ ? दुनिया असत्य का सेवन करती है, तो मुझको ही क्या पड़ी है कि मैं सत्य का सेवन करूँ ?" वह भूल जाता है कि प्रत्येक की आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व है और सबको अपने-अपने किये कर्मों का फल भुगतना पड़ता है।

कई लोग सोचते हैं कि जो सबका होगा, वह मेरा भी हो जायगा। मैं कोई अकेला ही पाप थोड़े कर रहा हूँ ? ऐसे लोगों को शास्त्र ने गंभीर चेतावनी दी है—

> जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई।
>
> कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥
>
> —उत्तराध्ययन, ५/७

जो अज्ञानी है, अविवेकी है, वही ऐसा सोचता है कि बहुतों को जो भुगतना पड़ेगा, वह मैं भी भुगत लूँगा। ऐसा मनुष्य क्लेश से बच नहीं सकता। उसके पापों का

परिणाम, सब में थोड़ा-थोड़ा बँटने वाला नहीं है। उसे अकेले को ही अपने पाप का फल भोगना पड़ेगा।

तो, अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं, तो अपने मस्तिष्क में से इस दुर्विचार को दूर कर दीजिए कि सारा संसार असत्य के दल-दल में फँसा है, तो मैं ही उबरने का प्रयत्न क्यों करूँ ? आपने असत्य को अपने जीवन का अभिशाप समझा है, तो दूसरे कुछ भी करें, आप असत्य का त्याग करके सत्य की शरण लें। ऐसा करने से आपका कल्याण तो होगा ही, साथ में समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा।

* * *

सरस्वती, लक्ष्मी और शक्ति

आप लोग चाहते हैं विजय को, सरस्वती को, लक्ष्मी को और शक्ति को। पर जहाँ कर्तव्य और पुरुषार्थ का प्रश्न सामने आता है, वहाँ दुम दबा कर भागने की सोचते हैं। परन्तु, याद रखना चाहिए कि भगोड़ों को न सरस्वती बौद्धिक प्रकाश दे सकती है, न लक्ष्मी वैभव के भण्डार भर सकती है और न ही दुर्गा शक्ति एवं बल प्रदान कर सकती है। भागनेवालों को कुछ भी नहीं मिलता। शक्ति और प्रकाश जिन्दा आदमियों को मिलता है, मुर्दों को नहीं।

समाज और राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए सरस्वती, लक्ष्मी तथा शक्ति का एकीकरण होना चाहिए। पर हुआ क्या? आज ब्राह्मण के पास सरस्वती है, तो लक्ष्मी का पता नहीं। व्यापारी-वर्ग के पास लक्ष्मी है, तो वहाँ सरस्वती का लोप है; जिसके कारण न कमाने में विवेक है और न उसका उपयोग करने में। क्षत्रिय को शक्ति मिली, तो वह सरस्वती के अभाव में अपने मस्तिष्क का संतुलन खो बैठा। उसे तलवार मिली थी रावण के प्रति चलाने के लिए; पर वह चलाने लगा उल्टा राम के प्रति। वह चलनी चाहिए थी दीनों की रक्षा के लिए,अन्याय, अत्याचार तथा अनैतिकता का उन्मूलन करने के लिए। पर, चल कहां रही है वह शक्ति की प्रतीक तलवार? मूक और निरीह भैंसों और बकरों की गर्दनों पर विजय देवी को प्रसन्न करने के लिए। जीवन में जब सरस्वती, लक्ष्मी एवं शक्तिका समन्वय होगा, तभी जाकर ये गलतफहमियाँ दूर हो सकती हैं। और तभी राष्ट्रीय जीवन में प्रगति की आशा की जा सकती है!

* * *

मानव-मानव एक

जैनधर्म एक बात संसार को कहने के लिए आया है कि जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। उनका अलग-अलग कोई गिरोह नहीं है। जो भी जातियाँ बन गई हैं या गिरोह बन गये हैं, वे सब विभिन्न प्रकार के काम-धन्धों को लेकर बने हैं। आखिरकार मनुष्य की जिन्दगी है, तो पेट भरने के लिए कोई-न-कोई धन्धा करना ही पड़ता है। कोई कपड़े का धन्धा करता है, कोई ऊन का व्यापार करता है, कोई दफ्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की समस्याओं को हल करने के तरीके हैं, किन्तु इन तरीकों के विषय में मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव रख छोड़े हैं कि अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है, मैं समझता हूँ कि यह कोरा अहंकार है और कुछ भी नहीं है। इससे राष्ट्र का बड़ा पतन हुआ है।

* * *

प्रश्न और उत्तर

१. बन्धन किस ओर से ?

२. धर्म की कसौटी क्या है ?

३. क्या जैन हिन्दु हैं ?

४. लक्ष्मी पुण्य से या पाप से ?

५. क्या कृषि आर्य-कर्म है ?

वन्धन किस ओर से ?

प्रश्न—एक तरफ शरीर है और दूसरी ओर आत्मा है। यह जो वंधन होते हैं हमारे जीवन के ऊपर, सो ये वंधन शरीर के द्वारा होते हैं या आत्मा के द्वारा ?

उत्तर—जीवन में एक प्रकार की जो चंचलता है, जो हलचल-सी रहती है, जिसे शास्त्र की परिभाषा में योग कहते हैं, उसी के द्वारा कर्म ढलते रहते हैं। यह हलचल न अकेले शरीर में होती है और न अकेली आत्मा में, वल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण दोनों में होती है। आप गहराई से विचार करेंगे, तो मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर द्वारा और न केवल आत्मा के द्वारा वंधन हो सकता है। केवल शरीर द्वारा वन्धन होता, तो जब आत्मा नहीं रहती और शरीर मुर्दा हो जाता है; तव भी कर्म-वंधन होना चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता, तो समझ लीजिए कि यह शरीर तो जड़ है। यह अपने-आप में कुछ नहीं है। यह तो मिट्टी का ढेला है, जो अपने-आप कुछ करने वाला नहीं है। जब तक आत्मा की किरण नहीं पड़ती, आत्मा का स्पन्दन नहीं होता, तव तक शरीर को क्या करना है ? यदि उसके द्वारा अपने-आप से कुछ करना-धरना होता, तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-वंधन होता।

यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का संचय कर रहा है, ऐसा मान लिया जाय, तो जैनधर्म की मर्यादा साफ नहीं रहती। आत्मा स्वयं, बिना शरीर के यदि कर्म-बन्धन कर सकती है, तो सिद्ध-दशा में भी कर्म-बन्धन होना चाहिए। मोक्ष में क्या है? वहाँ सिद्धत्व रूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्म-दशा है। वहाँ शरीर नहीं रहता, केवल आत्मा रहती है। यदि आत्मा ही कर्म-बन्धन का कारण है, तो सिद्धों को भी कर्म-बन्धन होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिएँ। मगर ऐसा होता नहीं है। वहाँ आत्मा कर्म-बन्धन से अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अतएव स्पष्ट है कि अकेली आत्मा से भी कर्मों का बन्धन नहीं होता।

अब यह स्पष्ट है कि कर्म-बन्धन होता है, आत्मा और शरीर के संयोग से। जब तक दोनों मिले होते हैं, तब तक संसारी दशा में कर्म-बन्धन चला करता है। जब दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, न केवल स्थूल शरीर, बल्कि सूक्ष्म शरीर भी आत्मा से अलग हट जाता है; तब कर्म-बन्धन का अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग से यह बन्धन की गाँठ आई है जीवन में।

कल्पना कीजिए, भंग है और वह अधिक-से-अधिक तेज घोट कर रक्खी गई है। अब प्रश्न है कि यह जो नशा है, उन्माद है, नशे का पागलपन है, सो भंग में है या पीने वाले

में है ? यदि पीने वाले में है, तो भंग पीने से पहले भी उसमें उन्माद होना चाहिए, दीवानापन होना चाहिए; किन्तु ऐसा तो हम देखते नहीं हैं। भंग पीने से पहले पीने वाले में पागलपन नहीं होता।

विचार होता है, जो पीने वाला है, आत्मा है, उसमें नशा नहीं है, उन्माद नहीं है, तो क्या भंग में है ? अगर भंग में ही है, तो भंग जब घोट कर गिलास में रक्खी गई हो ; तब उसमें भी दीवानापन आना चाहिए। मगर देखते हैं, वहाँ भी कुछ नहीं है। वह वहाँ शान्त रूप में, लोटे या गिलास में पड़ी रहती है। जब पीने वाले का संग होता है, तब जाकर नशा खिलता है, उन्माद और पागलपन आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भंग और अकेली आत्मा में नशा नहीं है, बल्कि जब दोनों का संग होता है, तब उन्माद पैदा होता है।

तो अकेले शरीर पर दोष मत रखिए और न अकेली आत्मा को अपराधी समझिए। जब आत्मा निस्संग हो जाती है, नारायण बन जाती है; तब उसमें कोई हरकत या स्पन्दन नहीं रह जाता है। इसी को योग-निरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक संसर्ग है; तब तक योग है, और जब तक योग है; तभी तक कर्म-बन्धन है।

* * *

फिर अन्तर क्यों है ?

प्रश्न—चेतन अनन्त हैं और समान स्वभाव वाले हैं, तो सब एक रूप में क्यों नहीं ? कोई अत्यन्त क्रोधी है, तो कोई क्षमावान् है। कोई अत्यन्त नम्र है, तो दूसरा अभिमान के कारण धरती पर पैर ही नहीं धरता ! यह सब भिन्नताएँ क्यों दिखाई देती हैं ? अगर आत्मा का स्वरूप एक सरीखा है, तो सब का रूप एक-सा क्यों नहीं है ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्माओं में जो भिन्नता दिखाई देती है, उसका कारण विभाव परिणति है। अपने मूल और शुद्ध स्वभाव के रूप में सब आत्माओं में समानता है; किन्तु जड़ के संसर्ग के कारण उनके स्वभाव में जो विकार उत्पन्न हो जाता है, वह विकार नाना प्रकार का है। ठाणांग सूत्र में कहा है—

"एगे आया।"

अर्थात् आत्मा एक है।

यह कथन संख्या की दृष्टि से नहीं, स्वभाव की दृष्टि से है। अर्थात् जगत् की जो अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं, वे सब गुण और स्वभाव की दृष्टि से चैतन्य-स्वरूप हैं, अनन्त शक्तिमय हैं और अपने-आप में निर्मल हैं।

फिर भी आत्मा में जो विकार मालूम दे रहे हैं, वे बाहर के हैं, जड़ के संसर्ग से उत्पन्न हुए हैं—कर्म या माया

ने उन्हें उत्पन्न किया है। जिस आत्मा में जितने ज्यादा विकार हैं, वह उतनी ही ज्यादा दूषित है, और जिसमें जितने कम विकार हैं, वह उतनी ही पवित्र है, उतनी ही शुद्ध है।

एक वस्त्र पूर्ण रूप से स्वच्छ है, एक पूर्णरूप से गंदा है, और एक कुछ गंदा है और कुछ साफ है ! तो यह बीच की अवस्था कहाँ से आई ? इस अवस्था-भेद का कारण मैल की न्यूनाधिकता है। जहाँ मैल का पूरी तरह अभाव है, वहाँ पूरी निर्मलता है और जहाँ मैल जितना ज्यादा है, वहाँ उतनी ही अधिक मलिनता है।

इसी प्रकार जो आत्मा क्षमा, नम्रता और सरलता के मार्ग पर चलती है, अपनी वासनाओं और विकारों पर विजय प्राप्त करती हुई दिखाई देती है और अपना जीवन सहज भाव की ओर ले जाती है, समझना चाहिए कि उसमें विभाव का अंश कम है और स्वभाव का अंश ज्यादा है। जितने-जितने अंश में विभाव कम होता है और मलिनता कम होती जाती है, उतने-उतने अंश में आत्मा की पवित्रता धीरे-धीरे व्यक्त होती जा रही है। वह स्वभाव की ओर आती जा रही है।

इस प्रकार जैन-धर्म का कहना है कि जड़, जड़ है और चेतन, चेतन है। मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं हूँ, मैं विकार-वासना भी नहीं हूँ, क्रोध, मान, माया, लोभ भी नहीं हूँ, नारक,

तिर्यञ्च, मनुष्य और देवता भी नहीं हूँ, चौरासी जीव-योनियों में से कोई भी नहीं हूँ। मुझ में जो विकार मालूम होते हैं, ये सब कर्म-जनित हैं। पानी में मिट्टी आ गई है, तो कीचड़ का रूप दिखलाई दे रहा है।

जब यह-दृष्टि जागी, तो उतने ही अंशों में आत्मा अपने स्वरूप में आ गई। यह दृष्टि-कोण यदि एक बार भी जाग जाय, यदि एक बार भी जड़ और चेतन को अलग-अलग समझ लें, तो फिर आत्मा कितनी ही क्यों न अधोदशा में चली जाय; एक दिन वह अवश्य ही ऊपर उठेगी, कर्मों के बन्धन को काट कर अपने असली शुद्ध स्वरूप में आ जायगी। अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाना, जड़ से सर्वथा पृथक् हो जाना ही आत्मा का मोक्ष कहलाता है। देर होना सम्भव है, मगर अन्धेर होना सम्भव नहीं। अन्धेर या अन्धकार तभी तक सम्भव है, जब तक भेद-विज्ञान नहीं होता।

* * *

धर्म की कसौटी क्या है?

प्रश्न—धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप निश्चित नहीं हैं। आप जिसे धर्म समझते हैं, दूसरा उसे अधर्म समझता है। एक जिसे पुण्य कहता है, दूसरा उसे पाप मानता है। इसकी क्या परीक्षा है? किस कसौटी पर इन्हें कसें?

उत्तर—यह कसौटी वेदों में, पुराणों या आगमों में नहीं मिलेगी। यह कसौटी तो भगवान् ने तुम्हारी आत्मा को ही पकड़ा दी है। उसी कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हें कोई मारे, गाली दे या तुम्हारा धन छीने, तो तुम्हारी क्या हालत होगी? और यदि कोई गुंडा तुम्हारी बहिन, बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे, तो उस समय तुम्हारी क्या भावनाएँ होंगी? उस समय पूछो अपनी आत्मा से कि यह धर्म हो रहा है या अधर्म हो रहा है? यह पुण्य है या पाप है?

हजारों पोथे सिर पर लादे-लादे फिरो, तो भी कुछ नहीं होगा। धर्म की परीक्षा और कसौटी पोथियों को रगड़ने से या उनके पन्ने पलटने से नहीं तैयार होगी। आत्मा को रगड़ोगे और विचार करोगे, तो पता चलेगा। जब तक तुम्हारे ऊपर नहीं बीती; तभी तक यह बातें हो रही हैं और जब तक अपने ऊपर आपत्तियाँ नहीं आईं, तभी तक यह बहसें हो रही हैं।

मैं पूछूँ—"एक गुंडा है और वह हिन्दू स्त्री के अपहरण में ही धर्म समझता है। एक हिन्दू, मुस्लिम स्त्री का अपहरण करने में ही धर्म मानता है। तो इन दोनों के लिए वैसा करना धर्म हो गया! अगर खुद के ऊपर यही बात गुजरे, तो उसकी आत्मा उसे धर्म कहेगी या अधर्म? वह उस कृत्य को पुण्य समझेगा या पाप समझेगा?"

एक वेदान्ती कहता है—"सारा संसार मिथ्या है, स्वप्न है, असत्य है।" किन्तु जब वही वेदान्ती चार-पाँच दिन का भूखा हो और उसके सामने मिठाइयों का भरा थाल आ जाय और खाने का इशारा किया जाय, तो क्या वह उस वक्त भी कह सकेगा कि यह तो मिथ्या है, असत्य है, भ्रम है? ऐसा कह दे, तो उसी वक्त खबर पड़ जाए? तो जब जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सामने सचाइयाँ आती हैं, तभी वास्तविकता का पता चलता है। एक हिन्दी साहित्यकार ने कहा है—

"जाके पैर न फटी बिवाई,
सो क्या जाने पीर पराई?"

जिसने कष्ट न पाया हो, जिसने पीड़ाएँ न देखी हों, जो मारना ही जानते हों, सताना ही जानते हों, दूसरों के हृदय में भाले घुसेड़ना ही जानते हों और जो भोग-विलास की गहरी नींद में सो रहे हों, आत्मस्वरूप को नहीं देख पा रहे हों; उन्हें कैसे मालूम होगा कि अहिंसा क्या होती है? जब मनुष्य दुःख की आग में पड़ता है, तब जानता है कि यहाँ धर्म है या अधर्म है, पुण्य है या पाप है? जीवन का देवता किसी विशेष प्रसंग पर जब बोलता है, तो पूरी तरह पुकार कर कहता है कि यह धर्म है, यह अधर्म है!

कल्पना करो—तुम जंगल में जा रहे हो और लाखों के हीरे-जवाहर लिए जा रहे हो। उस समय खून से भरी लपलपाती हुई तलवार लेकर कोई तुम्हारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। कहता है—"रख दे यहाँ, जो हो तेरे पास और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार हो जा।" तो तुम क्या कहोगे ? यही कि "ये सब चीजें ले लो, किन्तु प्राण रहने दो।" लेकिन जब वह कहता है—"नहीं, मैं तो धन और तन दोनों लूँगा। यह तो मेरा धर्म है। तू जीता कैसे निकल जायगा।" और वह मारने के लिए तैयार होता है। तब तुम गिड़गिड़ाते हो उसके सामने, पैरों पड़ते हो और हजार-हजार मिन्नतें करते हो और फिर कहते हो—'जो लेना हो, ले लो, पर मेरे ऊपर करुणा करो।" वह मृत्यु की घड़ी आपसे कहलाती है कि मुझे छोड़ दो। परन्तु वह कहता है, "छोड़ूँ कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है। यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है।"

इस विकट प्रसंग पर प्रकट रूप में कहने का साहस, संभव है आपको न हो, तो भी मन-ही-मन कहोगे—"धूल पड़े ऐसे धर्म, गुरु और देवता पर कि जिसने ऐसा सिखलाया है ! सच्चे धर्म, गुरु और देवता तो दुर्बल की रक्षा करना बताते हैं। जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है, गुरु

नहीं, कुगुरु है, देवता नहीं, राक्षस है। भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है?"

कल्पना करो, इतने में ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है और कहता है—"क्या कर रहे हो? तुम इसे नहीं मार सकते।" जब कि वह पहला कहता है कि "मारना मेरा धर्म है" तो यह दूसरा कहता है—"बचाना मेरा धर्म है। मेरे देवता, गुरु और धर्म ने सिखलाया है कि मरते जीव को अपना जीवन देकर भी बचाओ। मैं हर्गिज नहीं मारने दूँगा इसे। तेरा मारने का धर्म झूठा है और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है।"

मारने और बचाने के इस संघर्ष में धर्म की कसौटी ढूँढने कहाँ जाएँ? मारा जाने वाला बीच में खड़ा है। उसी से पूछ लो कि मारना धर्म है या बचाना धर्म है? हिंसा में धर्म है या अहिंसा में? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा में धर्म है और तलवार पकड़ने वाला कहता है कि अहिंसा में धर्म है। तो जिस पर तलवार पड़ रही है, उसी से पूछ लो। जिस पर गुजर रही है, उसी से पूछो। जिस पर तलवार का झटका पड़ने वाला है, उसी से पूछ देखो कि हिंसा में धर्म है या अहिंसा में? यही सबसे बढ़ कर आत्मा की कसौटी है।

* * *

क्या सब हिंसा बराबर हैं ?

प्रश्न—सब हिंसाएँ एक ही कोटि की होती हैं या उनमें कुछ अन्तर है ? अगर हिंसामात्र एक ही कोटि की होती है; तब तो शाक-भाजी खाना और मांस खाना एक ही कोटि में होना चाहिए ? अगर ऐसा नहीं है और हिंसा में किसी प्रकार का तारतम्य है, कोई हिंसा बड़ी और कोई छोटी है, तो उसका आधार क्या है ? किस गज से हिंसा का बड़ापन और छोटापन नापना होगा ? मरने वाले जीवों की संख्या की अल्पता पर हिंसा की अल्पता और अधिकता पर हिंसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिंसा की अधिकता और हीनता अवलम्बित है ? अथवा हिंसक की हिंसामयी वृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिंसा की अधिकता और न्यूनता आधारित है ? आखिर वह कौन-सा नाप है कि जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सकें ?

उत्तर—इस प्रश्न के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि "पानी, पृथ्वी, अग्नि, हवा और वनस्पति के जीव भी जीव हैं, उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। करुणा की भाषा में कहिए, तो वे भी बेचारे जिन्दगी रखते हैं, गूँगे हैं, इसलिए उनका मूल्य नहीं है आपकी आँखों में ? और द्वीन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के जो

बड़े-बड़े प्राणी हैं, उन्हीं की जिंदगी का आप मोल समझते हैं ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब हैं, अपने-आपमें कुछ सामर्थ्य नहीं रखते हैं और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं योग्य नहीं हैं, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा कम मानी जायगी और जो पंचेन्द्रिय हैं, समर्थ हैं, बोल सकते हैं, उनकी हिंसा बड़ी मानी जायगी ? यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। सब जीव बराबर हैं, क्या एकेन्द्रिय और क्या पंचेन्द्रिय। हिंसा का आधार एकमात्र जीव है, जीवों का छोटा-बड़ापन नहीं।"

इन्हीं विचारों में से राजस्थान में एक पंथ का जन्म हुआ है। यों तो उस पंथ के जनन लेने के और भी कई कारण सुने जाते हैं, पर यहाँ उन कारणों की तफसील में नहीं जाना है। मनुष्य को विचारों का द्वन्द्व ही धोखा देता है। हाँ, तो मूल में कोई कारण रहा हो; किन्तु हिंसा-अहिंसा की व्याख्याओं ने भी कुछ कम धोखा नहीं दिया है और उन्हीं व्याख्याओं के कारण भ्रान्तियाँ पहले भी और आज भी चलीं और चली आ रही हैं। कुछ भी हो, यह प्रश्न गंभीरता से विचारने योग्य है।

हाँ, तो मूल बात पर आ जाएँ। अब यह एक नई चीज पैदा हुई कि जीव-जीव सब एक, तो हिंसा भी बराबर है। उनमें से किसी की हिंसा कम और किसी की ज्यादा कैसे हुई ?

इस पर प्रश्न खड़ा हुआ कि फिर भी कोई कम हिंसक और कोई ज्यादा हिंसक कहलाता है, तो आखिर इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न का एक नया हल निकाला गया। वह यह कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा और जहाँ कम मरेंगे, वहाँ कम हिंसा होगी। इस मान्यता को आश्रय दिया, तो जीवों की गिनती शुरू हो गई। जब जीवों की गिनती शुरू हो गई, तो कई प्रकार के दूसरे तर्क पैदा होने लगे। एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है। प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। अगर आप उसे एक गिलास पानी देते हैं, तो वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। एक तरफ एक जीव बचता है और दूसरी तरफ कितने जीव मरते हैं ? पानी में असंख्यात जीव हैं, एक बूंद में भी असंख्यात जीव हैं। वे सब मर जाते हैं। इस प्रकार एक जीव बचा और उसके पीछे असंख्यात जीव मारे गये, तो यहाँ धर्म कैसे हुआ ? और पुण्य कहाँ से होगा ? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की रक्षा करली; किन्तु उसके पीछे असंख्य असमर्थों को मार दिया। इस प्रकार जीवों को गिन-गिन कर हिंसा की तरतमता कूती जाती है।

क्या सचमुच जैनधर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवों को गिन-गिन कर हिंसा का हिसाब लगाया जाय ? जीवों को गिन-गिन कर हिंसा और अहिंसा का मार्ग तैयार

करना जैनधर्म को इष्ट नहीं है। आगम और पुरानी परम्परा को मालूम करेंगे, तो आपको विदित होगा कि जैनधर्म जीवों को गिनने नहीं चला है। वह संख्या का बाहरी गज नहीं लेगा। वह तो भावनाओं के गज से ही हिंसा का मन्दत्व और तीव्रत्व नापेगा।

पहले बड़े-बड़े तपस्वी होते थे। वे घोर तपस्या करते थे। पारणे का दिन आता, तो विचार करते—"यदि हम वन-फल खाएँगे, तो असंख्य और अनन्त जीव मरेंगे। अनाज वगैरह खाएँ, तो उसमें भी जीव होते हैं और सेर दो सेर खाएँगे, तो कितने ही जीव मारे जाएँगे। इसमें भी हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यों न किसी एक स्थूलकाय जीव को मार लिया जाय, जिसे हम भी खाएँ और दूसरों को भी खिलाएँ ?" यह सोच कर वे जंगल में एक हाथी को मार लेते और कई दिनों तक उसे खाते रहते। उनका खयाल था कि हम ऐसा करते हैं, तो हिंसा कम होती है।

किन्तु, भगवान् ने कहा कि यह समझना गलत है। तुम्हें तो गिनने की आदत हो गई है कि पानी में और वनस्पति में इतने जीव हैं, तो हिंसा ज्यादा होगी और एक हाथी को मार लिया, तो हिंसा कम हो गई। ऐसा न समझो। जब एकेन्द्रिय की हिंसा की जाती है, तो भावों में इतनी तीव्रता नहीं रहती, भावों में उग्र घृणा, द्वेष पैदा नहीं होते, क्रूरता और निर्दयता से हृदय कठोर नहीं बन

जाता। किन्तु पंचेन्द्रिय जीव मारा जाता है, तो अन्तःकरण की स्थिति और ही प्रकार की होती है। वह हलचल वाला प्राणी है। जब उसे मारते हैं, तो घेरते हैं। वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर भावों में तीव्रता होगी, क्रूरता, निर्दयता की अधिकता होगी और कषाय प्रज्वलित होगा, तभी उसकी हिंसा की जायगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणामों की ऐसी तीव्रता नहीं होती। भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में भाव एक जैसे नहीं होते हैं; अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा मे परिणाम अधिक उग्र होंगे और इसलिए हिंसा भी ज्यादा होती है। द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में ज्यादा, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में ज्यादा और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय में ज्यादा हिंसा इसी कारण से मानी जाती है। पंचेन्द्रियों में भी औरों की अपेक्षा से मनुष्य को मारने में और भी ज्यादा हिंसा होती है।

हिंसा करने वाले के भाव किस गति से तीव्र, तीव्रतर होते हैं, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर ध्यान दें कि ज्यों-ज्यों विकसित प्राणी मिलते हैं, जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है, उन्हें

उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दुःख ज्यादा होता है। दुःख एक प्रकार की संवेदना है। संवेदना का संबंध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा, उसे दुख की संवेदना उतनी ही अधिक होगी। जब कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है, तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दुःख की संवेदना अनुभूति अधिक तीव्र होगी। और जब दुःख की संवेदना तीव्र होगी, तो अपने को बचाने का आर्तध्यान और रौद्रभाव भी बढ़ेगा। इधर मारने वाले में भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पड़ेगा। इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र भाव के बिना, अ यधिक क्रूर परिणाम के बिना नहीं हो सकती। यही कारण है कि उसकी हिंसा भी बड़ी हिंसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती औपपातिक सूत्र आदि में नरक-गमन के कारणों का उल्लेख करते हुए पंचेन्द्रिय-वध तो कहा है, एकेन्द्रिय-वध नहीं।

मैं जैन-धर्म की ओर से सूचना देता हूँ कि सब को एक ही गज से नहीं नापना है कि सब प्राणी बराबर हैं

और सबको मारने में एक जैसी ही हिंसा होती है। यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम ही हिंसा होती है और अनेक जीवों को मारने से अधिक ही हिंसा होती है। जैनधर्म मे ऐसा कोई एकान्त नहीं है। यह तो हस्तितापसों का मत है, जिसका भगवान् ने निषेध किया है, मगर आज वह भगवान् के गले मढ़ा जा रहा है!

जैनधर्म में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्यहिंसा और भावहिंसा मानी गई है और उसमें क्रमशः तरतमाता होती है। तरतमता का कारण हिंसक का संक्लेश परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम है, वहाँ हिंसा भी उतनी कम है। इसी कसौटी पर हिंसा की तीव्रता और मान्दता को कसना जैनधर्म को इष्ट है। जब इस कसौटी पर हिंसा को कसेंगे, तो स्पष्ट हो जायगा कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में हिंसक को रौद्रध्यान अधिक तीव्र होता है और मरने वाले में भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दुःख की अनुभूति अधिक ही होती है। तथा अर्तध्यान और रौद्रध्यान भी उसके अधिक तीव्र ही होते हैं। इस प्रकार वहाँ भाव-हिंसा जब तीव्र है, तो द्रव्य-हिंसा भी बड़ी होगी।

* * *

क्या जैन हिन्दु हैं ?

प्रश्न—जैन हिन्दु हैं अथवा उनसे अलग हैं? इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए हमें इतिहास की गहराई में डुबकी लगानी होगी। और उसके लिए विचार करना पड़ेगा कि दरअसल 'हिन्दु' शब्द हमारे इतिहास के पन्नों पर आया कहाँ से है ? बात यह है कि 'हिन्दु' यह अपना घड़ा हुआ, बनाया हुआ या चलाया हुआ शब्द नहीं है। यह तो हमें सिन्धु-सभ्यता की बदौलत मिला है। यानी हर हिन्दुस्तानी के लिए 'हिन्दु' का शब्द दूसरों के द्वारा प्रयुक्त किया गया है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

जैन कहीं आकाश से नहीं बरस पड़े हैं। वे भी उसी हिन्दुस्तान में जनमे हैं, जिसमें हिन्दुओं ने जन्म लिया है। वे सब महान् हिन्दु जाति के ही अभिन्न अंग हैं। जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दुओं से जैनों में कोई भेद नहीं है। हम जीवन के व्यवहारों में एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। ऐसा कोई नहीं, जो दूसरों से अलग और प्रतिकूल रह सके, पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम रख सके। सह-अस्तित्व, सह-विचार, सह-व्यवहार और सह-जीवन प्रत्येक हिन्दुस्तानी के जीवन का आदर्श रहा है। इसी आदर्श की शीतल छाया में हमने अपनी एक लम्बी

मंजिल तय की है। इस विशाल और वास्तविक दृष्टिकोण से जैन भी 'हिन्दु' ही हैं—यह असन्दिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है।

परन्तु, जहाँ धर्म का प्रश्न आता है, वहाँ जैन अपने पड़ौसियों और साथियों से कुछ अलग पड़ जाता है। उसके धार्मिक विचार तथा आचार, वैदिक-धर्म के आचार-विचार से भिन्न हैं। हिन्दु एक जाति है, धर्म नहीं। भारत के तीन ही प्रधान धर्म रहे हैं—जैन धर्म, वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म। दुर्भाग्य से, कुछ लोगों ने हिन्दु जाति को हिन्दु धर्म का नाम देना प्रारम्भ कर दिया। यह सब गलत बयानी भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता को न समझने के कारण हुई। जब यह स्थिति सामने आई, तो जैनों के धार्मिक विचार तथा आचार को एक धक्का लगा और उसके परिणाम-स्वरूप उनकी मनोवृत्ति एवं विचार-धारा को पृथक् होने की प्रेरणा मिली।

वस्तुतः यदि भारतीय संस्कृति की विशुद्धि एवं निष्पक्ष भाषा में सोचा जाय, तो धार्मिक दृष्टि से जैन, जैन हैं और जातीय सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जैन हिन्दु हैं। हिन्दु जाति के साथ उन्हें जीना है और उसी के साथ उन्हें मरना है। उससे अलग होकर वे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। पृथक् होकर वे अपना कोई भी जीवन-व्यवहार नहीं चला सकते।

गृहस्थ की अहिंसा-मर्यादा

प्रश्न—एक बारह व्रती श्रावक है और वह अपने व्रतों का पूरी तरह पालन कर रहा है। किन्तु वह एक देश का सम्राट् है, राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक समस्या आती है—आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण करता है। ऐसी स्थिति में वह श्रावक राजा क्या करे? राष्ट्र की शान्ति के लिए वह क्या करेगा? वह निग्रह का मार्ग पकड़ेगा और देश की रक्षा करेगा अथवा देश की लाखों जनता को अत्याचारी के चरणों में अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा?

उत्तर—जैनधर्म इस सम्बन्ध में कहता है कि इस प्रकार के प्रसंगों पर हिंसा मुख्य नहीं है, अपितु अन्याय का प्रतिकार मुख्य है, जनता की रक्षा मुख्य है। वह अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नहीं जायगा। जो पड़ौसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहा है, वहाँ अपनी विजय का झंडा गाड़ने के लिए नहीं पहुँचेगा। किन्तु जब कोई शत्रु बनकर उसके देश में खून बहाने, आएगा तब वह कर्तव्य-पूर्ति के लिए लड़ने की तैयारी करेगा और लड़ेगा। स्थूल प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करते समय, श्रावक ऐसी लड़ाई के लिए पहले से ही छूट रखता है।

प्राणातिपात या हिंसा के दूसरी तरह चार भेद हैं – (१) संकल्पी (२) आरंभी ३) उद्योगी और (४) विरोधी। जान-बूझकर, मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना संकल्पी हिंसा है। चौके-चूल्हे आदि के काम-धंधों में जो हिंसा हो जाती है, वह आरंभी हिंसा कहलाती है। खेती-बाड़ी, व्यापार, उद्योग वगैरह करते हुए जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा कहलाती है। और शत्रु का आक्रमण होने पर, देश को विनाश से बचाने के लिए, अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए जो युद्ध किया जाता है और उसमें जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में से श्रावक कौन-सी हिंसा का त्याग करता है और कौन-सी हिंसा की उसे छूट रहती है? इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमें से सिर्फ संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिंसा की जाती है, उसी का वह त्याग कर पाता है। वह आरम्भी हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए आरम्भ करना पड़ता है और उसमें हिंसा होना अनिवार्य है। यही बात उद्योगी हिंसा के सम्बन्ध में भी है। आखिरकार, कमाने के लिए जो धन्धे हैं और उन्हें जब किया जायगा, तो हिंसा हो ही जाएगी। इस कारण

श्रावक उसका भी त्यागी नहीं होता। रही विरोधी हिंसा, सो श्रावक उसका भी त्यागी नहीं होता। आखिर उसे अपने शत्रुओं से अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व उस पर है, यथावसर रक्षा करनी होती है।

तात्पर्य यह है कि स्थूल हिंसा का त्याग करते समय श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह विना प्रयोजन खून से हाथ नहीं भरेगा, मारने के लिए ही किसी को नहीं मारेगा, धर्म के नाम.पर हिंसा नहीं करेगा और भी इसी प्रकार की हिंसा नहीं करेगा।

अभिप्राय यह है कि श्रावक की भूमिकाएँ कितनी भी ऊँची हों; किन्तु जैनधर्म का आदेश है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नहीं, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो, उसे यथोचित दंड देने का अधिकार श्रावक रखता है। पर, वहाँ राग-द्वेष की भावना नहीं, अपितु कर्तव्य-भावना रखता है। यदि वह सोचता है कि शत्रु का भी कल्याण हो, समाज और राष्ट्र का भी भला हो, तो वहाँ भी, उस अंश में अहिंसा की सुगंध आती है। शत्रु पर हित-बुद्धि रखते हुए उसे होश में लाने के लिए दंड दिया जा सकता है, यह कोई अटपटी बात नहीं है। यह तो अहिंसक साधक की सुन्दर जीवन-कला है।

जाति और कुल

प्रश्न—क्या जैनधर्म की दृष्टि से जाति और कुल का कुछ महत्त्व है ? अगर जैन-धर्म में जाति और कुल का अपने-आप में कोई महत्त्व नहीं है, तो शास्त्र में "जाइसंपन्ने" और "कुलसंपन्ने" पाठ क्यों आया ? उसका असली अभिप्राय क्या है ?

उत्तर—इस प्रश्न पर अपनी बुद्धि और विवेक के साथ विचार करना है। "जाइसंपन्ने" और "कुलसंपन्ने" का अर्थ यह है कि संस्कार और वातावरण से कोई जाति-संपन्न और कुल-संपन्न हो भी सकता है। कोई जाति ऐसी होती है, जिसका वातावरण ही ऐसा बन जाता है कि उस जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नहीं खाता और शराब नहीं पीता है। ऐसी जाति में से अगर कोई प्रगति करना चाहता है, तो वह जल्दी आगे बढ़ जाता है; क्योंकि उसे प्राथमिक तैयारी वातावरण में से ही मिल गई है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति का जो भी महत्त्व है, वह मांस न खाने और मदिरा न पीने के कारण है, उस जाति में जन्म लेने के कारण नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं, जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति में जन्म लेकर भी संगति-दोष आदि कारणों से मांस-मदिरा का सेवन करने लगते हैं। उन्हें वह महत्त्व नहीं मिल सकता।

यह समझना गलत है कि वातावरण के द्वारा ब्राह्मण का लड़का बिना पढ़े ही संस्कृत का ज्ञाता बन जायगा। हजारों ऐसे ब्राह्मण हैं, जो गलत रास्ते पर भटक रहे हैं और महामूर्ख हैं। उनमें शूद्र के बराबर भी संस्कृति, सदाचार और ज्ञान नहीं है। इससे यह नतीजा निकलता है कि जाति-गत वातावरण या संस्कार एक हद तक व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं, किन्तु वही सब-कुछ नहीं हैं।

बहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन, वातावरण न मिलने के कारण गाँव-के-गाँव आर्य समाजी बन गये या दूसरे धर्म के अनुयायी हो गये हैं। हम वहाँ पहुँचे, तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए हैं, कोई जैनधर्म का उपदेशक वहाँ नहीं पहुँचा। उन्हें जैसा वातावरण मिल गया, वैसे ही वे बन गये! आप विचार कर सकते हैं कि उनमें भी जाति के संस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गये? उन्हें जातीय संस्कार तो मिले थे; किन्तु वातावरण न मिलने के कारण वे पथ-भ्रष्ट हो गये।

इसके विपरीत, किसी भी जाति में जन्म क्यों न हुआ हो, अगर वातावरण अनुकूल मिल गया, तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता है; क्योंकि हड्डी, मांस और रक्त में कोई फर्क नहीं है। वह तो प्रत्येक जाति में सरीखा ही होता है।

आइए, अब जरा जैनधर्म की बारीकी में चलें। जैनधर्म के अनुसार दया, अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों में रहते हैं या आत्मा में रहते हैं ? और एक जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा यदि एक-से सद्गुणों से सम्पन्न हैं, तो उनमें विभिन्नता क्यों दिखाई देती है ? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्यों नहीं होते ? और और जिसे अपवित्र कहते हैं, उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यों नहीं होते ? हरिकेशी मुनि जाति से चाण्डाल थे। उन्हें अपने माता-पिता से कौन-से उच्च संस्कार मिले थे ? वे क्या हड्डियों में पवित्रता लेकर जन्मे थे ? नहीं, उनके जीवन का मोड़ चिन्तन-मनन के अच्छे वातावरण से हुआ, जन्म के संस्कारों से नहीं। वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है। मनुष्य के बनाव-बिगाड़ के लिए अगर किसी को महत्त्व दिया जा सकता है, तो वह वातावरण ही है। जन्म से पवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैनधर्म की परम्परा में हम देखते हैं कि शूद्र भी साधु बन सकता है, और वह आगे का ऊँचे-से-ऊँचा रास्ता तय कर सकता है। सैकड़ों शूद्रों के मोक्ष प्राप्त करने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद हैं। अभिप्राय यह है कि हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बन कर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके और पथ-भ्रष्ट हो गये,

तो 'जाइसंपन्ने' होने से भी क्या हुआ ? और इसके विरुद्ध, हरिकेशी और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र वातावरण में आकर अगर जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के भी अधिकारी बन सके, तो 'जाइसंपन्ने' न होने पर भी क्या कमी उनमें रह गई ?

'जाइसंपन्ने' और 'कुलसपन्ने' पदों में जाति और कुल का अर्थ वह नहीं है, जिसे आजकल सर्व-साधारण लोग जाति और कुल समझते हैं। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकड़े शास्त्र में जाति नहीं कहलाते। शास्त्र में जाति का अर्थ है—मातृपक्ष और कुल का अर्थ है पितृपक्ष—

"जातिर्मातृपक्षः, कुलं पितृपक्षः"

माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिए। जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। माता के उठने, बैठने, खाने, पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पड़ता है। इसी प्रकार कुल अर्थात् पितृ-पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिए। जिस बालक के मातृ-पक्ष का और पितृ-पक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है, वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बचकर सद्गुणशील बन सकता है, हालांकि एकान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा और दुर्गुणी कभी भी नहीं

होगा। कई जगह अपवाद भी हो सकते हैं और होते देखे भी जाते हैं। फिर भी आम तौर पर यह होता है कि जिस वालक के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं, वह जल्दी प्रगति कर सकता है और वही जाति-सम्पन्न तथा कुल-सम्पन्न कहलाता है।

यह एक व्यावहारिक वात है। ऐसा कोई नियम नहीं वनाया जा सकता कि जिसकी जाति अर्थात् मातृ-पक्ष उत्तम वातावरण वाला है, उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा और जिसका मातृपक्ष गिरा हुआ होगा, उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी वालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रवल और प्रभाव-जनक होता है कि उस पर मातृपक्ष का और पितृपक्ष का प्रभाव नहीं पड़ पाता और वह स्वयं अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उलटे पासे भी पड़ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं कि हजार वातावरण तैयार किये जाएँ, वे उनमें आते ही नहीं और उनके विरुद्ध ही चलते हैं। हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को वदलने के लिए कितनी कोशिश की थी? उसने सोचा था कि मैं जैसा नास्तिक और राक्षस हूँ, प्रह्लाद को भी वैसा ही वना लूँ। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यप ने कितना प्रयत्न किया? किन्तु प्रह्लाद ऐसे प्रगाढ़ संस्कार लेकर

आया था कि बदल नहीं सका। उसकी ईश्वर-परायणता में वह दखल नहीं दे सका और वह अपनी दिशा में निरन्तर बढ़ता ही चला गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल में देवता के रूप में जन्म लेकर आया था। उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म लेना भी इसी प्रकार का, मगर इससे विपरीत अपवाद है। कंस और कंस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए, जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण बहुत उत्तम रहा, अनेक कोशिशें रहीं; फिर भी ऐसे बालकों ने जन्म लिया कि उन्होंने सब को अपवित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल को दियासलाई लगा दी।

अभिप्राय यह है कि जाति और कुल का वातावरण अगर पवित्र है, तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। जाति-सम्पन्न और कुल-सम्पन्न का इतना ही अर्थ है।

* * *

करना और कराना

प्रश्न—स्वयं काम करने में पाप अधिक है या दूसरे से कराने में? इस सम्बन्ध में जैनधर्म का सही दृष्टि-कोण क्या है?

उत्तर—यदि विचार ठीक है, विवेक है, तो करना और कराना दोनों ही ठीक हैं। विवेक के द्वारा पाप से बचा जा

सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक है, अज्ञान है; फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या कराता है, बचने या बचाने की चेष्टा नहीं करता है, ब्रेक नहीं लगाता है, तो अधिक पाप कमाता है। जब शरीर पर नहीं, तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है? और इस प्रकार काम करता है, जिससे ज्यादा हिंसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया सब ओर घूम-घूम कर बहुत अशुद्ध वातावरण बना देती है।

अच्छा, तो मतलब यह कि जहाँ अविवेक है, वहाँ करने में भी ज्यादा पाप है और कराने में भी ज्यादा पाप है। इसके विपरीत, जहाँ विवेक विद्यमान है वहाँ स्वयं करने में भी और कराने में भी पाप कम होता है। एक बहिन जो विवेकवती है, अगर स्वयं काम करती है, तो वह समय पड़ने पर जीवों को बचा देगी, चीजों का अप-व्यय नहीं करेगी और चौके की मर्यादा को अहिंसा की दृष्टि से निभा सकेगी। सेठानी बैठ जाय और हमारी बी०ए० तथा एम० ए० बहिनें भी बैठ जायँ और काम न करें। वे एक नौकरानी को काम सौंप दें, जिसे कुछ पता नहीं कि क्या करना है? वह रोटियाँ सेक कर आप के सामने डाल देती है। उसमें चौके की अहिंसा-सम्बन्धी मर्यादा की बुद्धि नहीं। अपनी अहिंसा की जो संस्कृति है, उसके सम्बन्ध में कोई विचार-धारा उसे नहीं मिली। इस हालत में भोजन बनाने के काम

पर या किसी दूसरे काम पर बिठला दी है, तो समझिए कि कराने में ही पाप ज्यादा होगा। अगर कोई बहिन स्वयं विवेक के साथ करेगी, अपना विवेक उसमें डालेगी, कदम-कदम पर अहिंसा का जीवन लेकर चलेगी और अपार करुणा एवं दया की लहर लेकर चलेगी। उसे खयाल होगा कि खाने वाले क्या खाते हैं और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकल है या प्रतिकूल? किन्तु उसने आलस्य-वश काम स्वयं न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ़ दिया, तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नहीं, आटा देखा गया है या नहीं ? कीड़े-मकोड़े पड़े हैं या नहीं ? और इस तरह वह चौके को संहार-गृह का रूप दे देती है। किसी तरह रोटियाँ तैयार हो जाती हैं और आपके सामने रख दी जाती हैं। इस तरह कराने में भी ज्यादा पाप होता है।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है। इसके विरुद्ध और कोई बात नहीं कही जा सकती। और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थों पर लागू होता है, उसी प्रकार साधुओं पर भी। कल्पना कीजिए, किसी गुरुजी के पास एक शिष्य है। गुरुजी को गोचरी-सम्बन्धी नियम-उपनियम, विधि-विधान सब का परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा-संबन्धी दोषों का ज्ञान नहीं है। नियमों और विधानों को भी वह अभी तक नहीं सीख-समझ पाया है। वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही

जानता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गुरुजी अगर स्वयं गोचरी करने जाते, तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते थे। मगर वह गोचरी करने स्वयं नहीं गये और विवेकहीन शिष्य से गोचरी करवाई। उसे पता नहीं कि किसे, कितनी, किस चीज की आवश्यकता है? जिस घर से भिक्षा ले रहा है, वहाँ बूढ़ों और बच्चों के लिए बच रहता है या नहीं? उसे मर्यादा का भी कोई ध्यान नहीं है। गोचरी में से वह दोषों का भंडार ही लेकर आएगा। इस प्रकार स्वयं करने की अपेक्षा कराने में ज्यादा हिंसा हो जाती है।

भारतीय संस्कृति की और उसमें भी विशेषतः जैन-संस्कृति की यह शिक्षा है कि हर एक काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम में चालू रहना चाहिए। इस प्रकार करने और कराने में पाप की न्यूनता और अधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती है। विवेक के साथ 'स्वयं' करने मे कम पाप है; जब कि अविवेक-पूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने में अधिक पाप है और अविवेक के साथ स्वयं करने में अधिक पाप है, जब कि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने में कम पाप है। यह जैन-धर्म की अनेकान्त दृष्टि है!

* * *

गोत्र और अस्पृश्यता

प्रश्न—क्या उच्च गोत्र नीच गोत्र के रूप में और नीच गोत्र उच्च गोत्र के रूप में बदला जा सकता है? और उच्च गोत्र वाले का स्पर्श करना चाहिए और नीच गोत्र वाले का स्पर्श नहीं करना चाहिए, क्या जैनधर्म इस विचार से सहमत है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए पहले उच्च गोत्र और नीच गोत्र के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर लेना अत्यावश्यक है। कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल में पैदा हो गया, तो वह उच्च गोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न हो गया, तो नीच गोत्रीय कहलाने लगा। इस सम्बन्ध में पहली बात, जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि कुल की प्रतिष्ठितता क्या सदैव एक समान रहती है? नहीं, वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के कारण पलटती देखी जाती है। एक व्यक्ति का ऊँचा आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ा देता है और एक व्यक्ति का नीचा और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा में धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। ऐसी स्थिति में किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। यह तो जनता के विचारों की चीज है, वास्तविक वस्तु नहीं है।

दूसरी बात यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नहीं ? मान लीजिए कि किसी को नीच गोत्र मिला है। उसने तत्त्व का चिन्तन किया है, मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है, तो उसी जीवन में उसका गोत्र बदल सकता है। यदि गोत्र नहीं बदल सकता, तो मुझे अपने विचारों को समेट कर एक कोने में डालना पड़ेगा। अगर गोत्र का बदलना साबित हो जाता है, तो आपको भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सब को उसे अपनाने के लिए तैयार होना चाहिए।

कल्पना कीजिए एक उच्चगोत्री है, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है और आज वह बुरा काम करता है और वह मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से रूपक को समझना चाहिए।

हाँ, तो एक ओसवाल या अग्रवाल मुसलमान बन जाता है, तो आप उसे दूसरे रूप में ही समझते हैं या दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वह आपकी निगाहों से गिर गया है। उसमें उच्च गोत्र नहीं रहा है। आप उसे पहले की तरह साथ बिठला कर एक थाली में

भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है, तो इसका अर्थ यह है कि उच्च गोत्र स्थायी नहीं रहा। वहाँ जन्म की धारणा नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा, ऊँचा बना रहा, और जब उसका पतन हो गया और उसने भयंकर बुराई कर ली और किसी दूसरे रूप में चला गया, तो वह गोत्र बदलने की चीज हुई। पहले वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य या कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु अब वह बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

तो जो बात उच्च गोत्र के सम्बन्ध में है, वही बात नीच गोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्च गोत्र बदल जाता है और नीच गोत्र बन जाता है, तो दूसरा हिस्सा नीच गोत्र क्यों नहीं बदल सकता? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीचगोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म-भर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का सिद्धान्त है? जब उच्च गोत्र स्थायी नहीं रहता है, तो नीच गोत्र स्थायी किस प्रकार रह सकता है?

नीच गोत्र और उच्च गोत्र का क्या अर्थ है? जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीच गोत्र में रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है, तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

अब जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार कीजिए। सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का छठा गुणस्थान है। और छठे गुणस्थान में नीचगोत्र का उदय नहीं होता। हरिकेशी नीच जाति में उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए। अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीच गोत्र में ही रहे, तो उन्हें छठा गुणस्थान नहीं होना चाहिए और साधु का दर्जा नहीं मिलना चाहिए। मगर शास्त्र बतलाता है कि वे महामहिम मुनि थे और उन्हें छठा गुणस्थान प्राप्त था। छठे गुणस्थान में नीच गोत्र नहीं रहता है। इसका अभिप्राय साफ है कि हरिकेशी नीच गोत्र से बदल कर उच्च गोत्र में पहुँच गये थे। तो आपको फैसला करना पड़ेगा कि नीच गोत्र भी उच्च गोत्र के रूप में बदल जाता है। उच्च गोत्र और नीच गोत्र दोनों गोत्रकर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। अवान्तर प्रकृतियों का एक-दूसरी के रूप में संक्रमण हो सकता है, यह बात कर्म-सिद्धान्त को समझने वाले समझ सकते हैं।

हरिकेशी मुनि नीच गोत्र की पोटली अपने सिर पर रख कर छठे गुणस्थान की ऊँचाई पर नहीं चढ़े थे। यह बात इतनी ठोस सत्य है कि जब तक आप शास्त्र को प्रमाण मानने से इन्कार न कर दें; तब तक इससे भी इन्कार नहीं कर सकते। अगर आप शास्त्र के सिद्धान्त को कायम रखना चाहते हैं, तो आपको उच्च गोत्र और नीच गोत्र के आजीवन स्थायित्व को खत्म करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि उच्च गोत्र और नीच गोत्र का छुआछूत के साथ कोई ताल्लुक नहीं है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पना-मात्र है। जो कष्ट में पड़ा है और बेहोश हो रहा है; आप उसके पास खड़े-खड़े टुकुर-टुकुर देखते हैं और अछूत समझ कर उसे हाथ नहीं लगा सकते। सिद्धान्त इसका समर्थन नहीं करता। शास्त्र इस व्यवहार का अनुमोदन नहीं करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो पाते हैं कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्रकर्म का कतई ताल्लुक नहीं है। गाय भैंस, घोड़ा, हाथी आदि जितने भी पशु हैं, उनको शास्त्रों के अनुसार नीच गोत्र होता है। किसी भी पशु में उच्च गोत्र नहीं माना-गया है। अगर नीचगोत्री होने से कोई अछूत हो जाता है, तो सभी पशु अछूत होने चाहिएँ। गाय और भैंस भी अछूत होनी चाहिएँ। मगर उनका दूध लोग डकार जाते हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं! घोड़े पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने में अपना अहोभाग्य मानते हैं। उस समय वे क्यों भूल जाते हैं कि यह पशु नीचगोत्री है और इस कारण अछूत है—इन्हें छुएँगे, तो धर्म डूब जायगा और जाति चली जायगी।

खेद है कि पशुओं को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हें मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है, तो

नीच गोत्र की बात कह कर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्तव्य से, अपने विवेक से, न्याय और नीति से और धर्म से हट जाते हैं ! मगर सिद्धान्त की जो बात है, उसे सर्वतोभावेन अंगीकार करना हमारा कर्तव्य है।

* * *

लक्ष्मी पुण्य से या पाप से ?

प्रश्न—आम लोगों की यह धारणा है कि लक्ष्मी पुण्य से ही मिलती है। आप की इसमें क्या राय है ?

उत्तर—लक्ष्मी का आना एकान्त पुण्य की बात नहीं है। वह तो पाप के उदय से भी आती है और पुण्य के उदय से भी आती है।

कल्पना कीजिए, एक आदमी कहीं जा रहा है। जाते-जाते उसे रास्ते में मोहरों की थैली मिल गई। अनायास ही वह मिल गई और उसने उठा ली। तो वह पाप के उदय से मिली या पुण्य के उदय से मिली ?

वह आदमी उस थैली को उठाकर घर ले गया और मोहरों का इस्तेमाल करना शुरू किया। फिर जाँच हुई, तो पकड़ा गया और जेलखाने गया। मानना होगा कि वह थैली पाप के उदय से मिली और जेलखाने जाना और वहाँ कष्ट पाना; उसी पाप के उदय का फल है।

एक डाकू डाका डालता है और लोगों की लक्ष्मी लूट लेता है। उसे जो सम्पत्ति मिलती है, सो पाप के उदय से या पुण्य के उदय से ? क्या उस लूट और छीना-झपटी के धन को पुण्य से प्राप्त लक्ष्मी कहा जा सकता है ? कभी नहीं, तीन काल में भी नहीं।

तात्पर्य यह है कि इस विषय में बहुत गलतफ़हमियाँ होती हैं। हमें निरपेक्ष भाव से, मध्यस्थ भाव से शान्ति-पूर्वक सोचना चाहिए। ठगी और चोरी न करके, न्याय-युक्त वृत्ति से जो लक्ष्मी आती है, वही पुण्य के उदय से आती है और वह लक्ष्मी नीति और धर्म के कार्यों में व्यय होती है।

इतिहास बतलाता है कि दिन में एक व्यक्ति राजगद्दी पर बैठा और रात में कत्ल कर दिया गया। तो कत्ल कर दिया जाना पाप का उदय है और उसका कारण राजगद्दी मिलना है। अतएव उसे पाप के उदय से राजगद्दी मिली, जो उसके कत्ल का निमित्त बनी।

* * *

लड़की पुण्य से या पाप से ?

किसी के घर लड़का होता है, तो लोग कहते हैं—पुण्य के उदय से हुआ और लड़की पैदा हो, तो कहते हैं कि पाप

का उदय हो गया ! क्या आप की दृष्टि से ऐसा मानना ठीक है ?

उत्तर—प्रश्न गंभीर है और लोगों की धारणा है कि पुण्य के उदय से लड़का और पाप के उदय से लड़की होती है।

चाहे हजारों वर्षों से आप यही सोचते आये हों; किन्तु मैं इस विचार को चुनौती देता हूँ कि आपका विचार करने का यह ढङ्ग बिलकुल गलत है। मिथिला के राजा कुम्भ के यहाँ मल्ली कुमारी का जन्म हुआ। वह पाप के उदय से हुआ या पुण्य के उदय से हुआ ? और राजा उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म पाप के उदय से अथवा पुण्य के उदय से हुआ ? श्रेणिक के यहाँ कोणिक ने जन्म लिया, सो पाप के उदय से या पुण्य के उदय से ? मतलब यह है कि एकान्त रूप में लड़का-लड़की के जन्म को पुण्य-पाप का फल नहीं माना जा सकता।

मैंने एक आदमी को देखा है। उसके यहाँ लड़का भी था और लड़की भी थी। लड़के ने सारी सम्पत्ति बर्बाद कर दी। वह बाप को भूखा मारने लगा और भूखा ही नहीं मारने लगा, डंडों से भी मारने लगा। उसे दो रोटियाँ भी दूभर हो गईं। आखिर उसने लड़की के यहाँ अपना जीवन व्यतीत किया और वहाँ उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। जब वह मुझ से एक बार मिला, तो कहने लगा,

"बड़ा भारी पुण्य का उदय था कि मेरे यहाँ लड़की हुई। अब जीवन ढंग से गुजर रहा है। लड़की न होती, तो जिंदगी बर्बाद हो जाती।"

मैंने लड़के के विषय में पूछा, तो उसने कहा; 'न जाने किस पाप कर्म के उदय से लड़का हो गया ?'

तो, उसने ठीक-ठीक निर्णय कर लिया। आपके सामने ऐसी परिस्थिति नहीं आई है, अतएव आप एकान्त रूप में निर्णय कर लेते हैं कि पुण्य से लड़का और पाप से लड़की होती है। लड़के-लड़की का आना और जाना, यह तो संसार का प्रवाह बह रहा हैं। इसमें एकान्त रूप से पुण्य-पाप की भ्रान्ति मत कीजिए।

* * *

विवाह किस दृष्टि से ?

प्रश्न—एक गृहस्थ जब विवाह के क्षेत्र में उतरता है, तो वह ब्रह्मचर्य की भूमिका से उतरता है या वासना की भूमिका से उतरता है ? इस सम्बन्ध में आप के क्या विचार हैं ?

उत्तर—यह प्रश्न एक विराट् प्रश्न है और जीवन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस का समाधान प्राप्त करने के लिए अनेक गुत्थियों को सुलझाना है और उनके सुलझाने

में कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक भी उलझ जाते हैं।

हाँ, तो आप मालूम करना चाहते हैं कि कोई विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वह ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रवेश करता है अथवा वासना की दृष्टि से प्रवेश करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर एकान्त में नहीं दिया जा सकता। विवाह के क्षेत्र में दोनों चीजें हैं—वासना भी है और ब्रह्मचर्य भी है। इस प्रकार दोनों चीजों के होते हुए भी *देखना होगा कि वहाँ ब्रह्मचर्य का अंश अधिक है या* वासना का ? जब विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया है, तो क्या चीज अधिक है ? यहाँ मैं उसकी बात कर रहा हूँ, जो समझदारी के साथ विवाह के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। जो जीवन को समझ ही नहीं रहा है और फिर भी विवाह के बन्धन मे पड़ गया है, उसकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ। तो समझदार के लिए क्या बात है ? विवाह में जहर तो एक बूंद के बराबर है ? और त्याग की मात्रा समुद्र के बराबर है। पशु और पक्षी अपनी जीवन-यात्रा को तय कर रहे हैं, पर वहाँ विवाह जैसी कोई चीज नहीं है। उनकी वासना की लहर समुद्र की तरह लहराती है। किन्तु मनुष्य विवाह करके वासनाओं के उस लहराते हुए सागर को प्याले में बन्द कर देता है।

कल्पना कीजिए किसी पहाड़ी के नीचे एक वांध वाँध दिया है। वह वर्षा के पानी से लवालव भर गया है। यदि वांध उस पानी को पूरा-पूरा हजम कर सके, तो वांध की दीवारों के टूटने की नौवत न आये और इंजीनियर वांध वनाते समय पानी निकालने का जो मार्ग रख छोड़ता है, उसे भी खोलने की आवश्यकता न पड़े। किन्तु पानी जोरों से आ रहा है और उसकी सीमा नहीं रही है और वांध में समा नहीं रहा है; फिर भी यदि पानी के निकलने का मार्ग न खोला गया, तो वांध की दीवारें टूट जाएँगी और उस समय निकला हुआ पानी का उच्छृखंल प्रवाह वाढ़ का रूप धारण कर लेगा और हजारों मनुष्य को, सैकड़ों गांवों को वहा देगा, वर्वाद कर देगा। अतएव इंजीनियर उस वांध के द्वार को खोल देता है और ऐसा करने से नुकसान कम होता है। गाँव वर्वाद होने से वच जाते हैं।

यदि इंजीनियर वांध के पानी को निकलने का मार्ग खोल देता है, तो वह कोई अपराध नहीं करता है। ऐसा करने के पीछे एक महान् उद्देश्य होता है। और वह यह कि वांध सारा-का-सारा न टूट जाय, जन-धन का सत्यानाश न हो और भयानक वर्वादी होने का अवसर न आए।

ठीक यही वात मनुष्य के मन की भी है। अगर किसी में ऐसी शक्ति आ गई है और कोई अगस्त्य वन गया है कि

समुद्र के किनारे बैठे और सारे समुद्र को चुल्लू-भर में पी जाय, तो वह समस्त वासनाओं को पी सकता है, हजम कर सकता है और वासनाओं के समुद्र को शोषण कर सकता है। शास्त्र कहता है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। सारे समुद्र को और बांध के पानी को हजम करने की शक्ति तुझ में है, तो तू उसे पी जा। परन्तु ऐसा करने के लिए तुझे अगस्त्य बनना पड़ेगा। और यदि सेर-दो-सेर ही पानी तू हजम कर सकता है, और फिर भी अगस्त्य बनने चला है, तो तू अपने-आप को बर्बाद कर देगा, समाज और राष्ट्र को भी हानि पहुँचाएगा।

इस प्रकार समस्त वासनाओं को पचा जाने, हजम करने की जो साधना है, वही पूर्ण 'ब्रह्मचर्य है। जिसमें वह महाशक्ति नहीं है, जो समस्त वासनाओं और विकारों को पचा नहीं सकता, उसके लिए विवाह के रूप में एक मार्ग रख छोड़ा गया है। चारों ओर से अखण्ड दीवारें हैं और एक ओर से, नियत मार्ग से, वासना का पानी बह रहा है, तो संसार में कोई उपद्रव नहीं होता, कोई बर्बादी की नौबत भी नहीं आती और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

* * *

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रश्न—जैनधर्म की अहिंसा क्या है? क्या वह अकेली निवृत्ति ही है? यानी क्या वह अलग खड़े रहने के ही रूप में है? इधर से भागे, उधर खड़े हो गये और उधर से भागे, इधर आकर खड़े हो गये। तब क्या साधक सर्वथा अलग-थलग कोने में खड़े रहकर जीवन गुजार दे? अहिंसा को कहीं से अलग हटना है, तो अलग हटने के साथ कहीं खड़ा भी रहना है या नहीं? कहीं प्रवृत्ति भी करनी है या नहीं? अहिंसा का साधक जीवन के मैदान में कुछ अच्छे काम कर सकता है या नहीं?

उत्तर—जो अहिंसा जीवन के मैदान से अलग हो जाती है और हर जगह से भागना ही जानती है, जिस अहिंसा का साधक भाग कर कोने में दुबक जाता है और कहता है—मैं तटस्थ हूँ और मैं अहिंसा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ, ऐसी अहिंसा आखिर किस मर्ज की दवा है? यह अहिंसा की निष्क्रिय वृत्ति है और इससे साधक के जीवन में मात्र निष्क्रियता ही आ सकती है।

यदि आपने शुद्ध निवृत्ति के चक्र में पड़ कर शरीर को काबू में कर भी लिया, तो क्या हुआ? मन तो कुछ हरकतें करता ही रहेगा। मन को कहाँ ले जाओगे? इसका अर्थ हुआ मन को साधना पड़ेगा। तब शास्त्रकार कहते हैं कि

मन को ही एकाग्र करो, मन को ही साधो, मन को ही संसार से अलग करो। जीवन भले संसार में उचित प्रवृत्ति करे। जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है और मन की उच्छृंखल प्रवृत्ति कुछ और है। अंकुश मन पर लगा रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया, तो फिर कहीं भागने की जरूरत नहीं है।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं। तब हम ठहरें या चलें ? यदि आप कहें कि चलो और ठहरो, तो दोनों काम एक-साथ नहीं हो सकते। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते हैं? गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती हैं ? यानी परस्पर विरोधी चीजों को एक-साथ कैसे खड़ा करेंगे ? मगर नहीं, जैनों का एक खास तरीके का चिन्तन है और उस चिन्तन से विरोधी मालूम होने वाली चीजें भी अविरोधी हो जाती हैं। जैसे और-और वस्तुओं के अनेक अंश हैं, उसी प्रकार अहिंसा के भी अनेक अंश हैं। अहिंसा का एक अंश प्रवृत्ति है और दूसरा अंश निवृत्ति है। यह दोनों अंश सदा साथ ही रहते हैं। एक-दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। प्रवृत्ति कर रहे हैं, उस समय निवृत्ति उसके साथ होती ही है। अगर प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नहीं, तो उसका कोई मूल्य नहीं। वह प्रवृत्ति बंधन में डाल देगी। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति के होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है। इसी प्रकार

प्रवृत्ति नहीं है, तो अकेली निवृत्ति की भी कोई कीमत नहीं। इसीलिए चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को स्थान दिया गया है। चारित्र न एकान्त निवृत्ति-रूप है, न एकान्त प्रवृत्ति-रूप। कहा है—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं,
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।

—उत्तराध्ययन, ३१/२

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

—आचार्य नेमिचन्द्र

अर्थात् अशुभ कर्मों से, बुरे संकल्पों से, बुरे आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ में प्रवृत्ति करना—सत्कर्मों का आचरण करना ही चारित्र है।

जैन-धर्म में जहाँ चारित्र की बात आती है, वहाँ पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ बतलाई जाती हैं। गुप्ति का मतलब निवृत्ति और समिति का अर्थ प्रवृत्ति है। ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। तो चलने से इन्कार नहीं किया गया, किन्तु गलत रूप में चलना या अविवेक से चलना ठीक नहीं है। हजारों 'ना' हैं, तो एक 'हाँ' भी है। चलने में अगर हजार 'ना' हैं, तो एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। चलो, किन्तु असावधानी से या प्रमाद से मत चलो। ऐसा करना शुभ में प्रवृत्ति है, और अशुभ से निवृत्ति है। बस, अशुभ अंश को निकाल दो और शुभ अंश को पकड़े रहो।

भाषा समिति में बोलना बंद नहीं किया गया। वहाँ भी बहुत से नकारों के साथ स्वीकार है। क्रोध, मान, माया, लोभ और अहंकार आदि से मत बोलो, कर्कश शब्द मत बोलो। कठोर और मर्म-वेधी मत बोलो। बोलने पर बंदिश नहीं है।

अब एषणा समिति का नम्बर है। जीवन है, तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र में यह नहीं कहा कि आहार के लिए प्रवृत्ति न करो। अलबत्ता उसके साथ हजारों 'ना' लग रहे हैं कि ऐसा मत लो, वैसा मत लो, फिर भी लेने को तो कहा ही है।

इसी प्रकार आवश्यकता-पूर्ति के लिए काम आने वाली चीजों का रखना और उठाना बंद नहीं किया गया है। हम पात्र उठाते और रखते हैं। कदाचित् दूसरी चीजों को उठाना-रखना बंद भी कर दें, तब भी शरीर को तो उठाए और रक्खे बिना काम नहीं चल सकता है। इसलिए न उठाने की मनाई है, न धरने की; मनाई है असावधानी से धरने की। सावधानी के साथ यदि उठाया जाय, तो कोई मनाई नहीं है। इस प्रकार बहुतेरे 'ना' लगे हैं, तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। यह आदान निक्षेपण समिति हुई।

परिष्ठापन समिति को लीजिए। आहार किया जायगा, तो शौच भी लगेगी और पानी पिया जायगा, तो पेशाब भी

होगा। यह तो सम्भव नहीं है कि कोई खाता चला जाय और पीता चला जाय, मगर मल-मूत्र न बने या उसे त्यागना तो है ही, किन्तु अविवेक या असावधानी से नहीं, किन्तु विवेक के साथ।

देखिए, जैनाचार्य समिति की क्या व्याख्या करते हैं—

'पविचाराऽपविचारांओ समिइओ।'

इसका अर्थ यही है कि समितियाँ प्रवृत्ति रूप भी हैं और निवृत्तिरूप भी हैं। जहाँ समिति है, वहाँ गुप्ति भी होती है।

अभिप्राय यह है कि जीवन के क्षेत्र में, चाहे साधु हो या श्रावक, दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति आवश्यक हैं। अशुभ आचरण एवं अशुभ संकल्प से अलग रह कर शुभ में प्रवृत्ति करनी होगी। शुभ सोचेंगे, शुभ बोलेंगे और शुभ आचरण करेंगे, तो इस रूप में हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेंगी। हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारी अशुभ से निवृत्ति का लक्ष्य शुभ में प्रवृत्ति करना है और शुभ में प्रवृत्ति करने का ध्येय अशुभ से निवृत्त होना है। प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर निरपेक्ष होकर रह नहीं सकतीं और रहनी भी नहीं चाहिएँ।

आदमी घोड़े पर चढ़ता है, तो चलने के लिए चढ़ता है। इसलिए नहीं चढ़ता कि वहीं जाम हो जाय। वह घोड़े पर चढ़ता है, और उसे गति देता है; किन्तु घोड़े की लगाम भी साथ ही पकड़ लेता है। उसे जहाँ तक चलना

है, वहाँ तक चलता है और जहाँ आवश्यकता खड़े होने की होती है, तो खड़ा हो जाता है। वहाँ प्रवृत्ति है घोड़े पर चढ़ कर चलना और जरूरत होने पर खड़ा हो जाना निवृत्ति भी है।

किसी सेठ ने अगर ऐसी मोटर ले ली है कि एक बार हरकत देने पर वह चलती है और ऐसी चलती है कि कहीं कभी रुकती ही नहीं है, तो ऐसी मोटर में कोई बैठेगा ? मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य, मगर जरूरत के समय खड़ी भी रह सके, धीमी भी हो सके। उसमें आप बैठना पसन्द करेंगे। जीवन भी गाड़ी है, अतः उसे समय पर चलाइए और समय पर रोकिए भी। न जीवन की गति अमुक्त, मर्यादा-हीन एवं उच्छृंखल ही होनी चाहिए, और न सर्वथा निष्क्रिय स्थिति में पड़ कर अशुद्ध हो जानी चाहिए।

* * *

प्रेम और मोह

प्रश्न—प्रेम और मोह एक ही चीज हैं या इनमें कुछ अन्तर है ? कृपया स्पष्टीकरण-पूर्वक समझाइए।

उत्तर—हमारे जीवन में दो धाराएँ बहती हैं—एक मोह की और दूसरी प्रेम की। मोह में वासना, विकार और अब्रह्मचर्य है और दूसरे के लिए आकर्षण है। वह आकर्षण

इतना प्रबल है कि दूसरे के साथ अपने जीवन को जोड़ देना चाहता है। वासना किसी-न-किसी के साथ सम्पर्क कायम करती है और जीवन का साथी बनाना चाहती है।

और, जहाँ प्रेम है, आकर्षण वहां भी होता है। मनुष्य अपने-आप में अकेला है और वह अकेला पड़कर ही न रह जाय, इसलिए वह भी दूसरे से ताल्लुक जोड़ना चाहता है। वह भी स्नेह-सम्बन्ध कायम करना चाहता है किसी से।

इस प्रकार मोह और प्रेम में ऊपर दिखाई देने वाला आकर्षण एक-सा है। किन्तु दोनों में आकर्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। उनकी भिन्नता को समझने के लिए गाय के दूध और आक के दूध का उदाहरण उपयुक्त है। गाय का दूध भी दूध कहलाता है, और आक का दूध भी दूध कहलाता है। दोनों दूध कहलाते हैं और दोनों सफेद होते हैं। किन्तु दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। एक में अमृत भरा है, और दूसरे में विष छलकता है। आक के दूध की एक बून्द जहर का काम करती है और गाय का दूध पीने के बाद शरीर के कण-कण में बल और शक्ति का संचार करता है।

इसी प्रकार प्रेम और मोह दोनों में आकर्षण है; पर दोनों के आकर्षण में अन्तर है। मोह का आकर्षण जब एक का दूसरे पर चलता है, तो दोनों की जिन्दगी को वासना में डाल देता है। और जिस किसी के पास वह आकर्षण

का प्रवाह जाता है, तो विकार और वासना की लहरें लेकर जाता है। प्रेम का आकर्षण ऐसा नहीं होता। उसमें विकार नहीं होता, वासना भी नहीं होती।

सीता के प्रति एक ओर रावण के हृदय में आकर्षण था और दूसरी ओर लक्ष्मण के हृदय में भी आकर्षण था। किन्तु, रावण का आकर्षण वासना के विष से भरा था और लक्ष्मण का आकर्षण मातृत्व की पवित्रता से ओत-प्रोत था। सीता की सेवा लक्ष्मण ने किस प्रकार की? उसके लिए वह प्राण देने को भी तैयार रहा और अपनी सुख-सुविधाओं को ठोकर लगाई! यह सब आकर्षण के बिना सम्भव नहीं था। परन्तु, यह आकर्षण निःस्वार्थ भाव से था। उसमें वासना के लिए रंचमात्र भी अवकाश न था। सीता के प्रति लक्ष्मण की मातृ-बुद्धि थी। उसने अपने जीवन में सीता को माता की दृष्टि से देखा था।

जब रावण सीता का अपहरण कर आकाश-मार्ग से जा रहा था, तो सीता अपने शरीर के अलंकार नीचे फेंकती चली गई थी, जिससे राम को पता लग जाय कि वह किस मार्ग से कहाँ ले लाई गई है? तो, ज्यों ही राम की दृष्टि केयूर पर पड़ी, तो उन्होंने उठा लिया और कहा—"यह आभूषण तो सीता का ही मालूम होता है। देखना लक्ष्मण, यह सीता का ही है न?

उस समय लक्ष्मण के अन्तर्जीवन की उज्ज्वलता बाहर

में भी चमक उठती है। लक्ष्मण का वह जीवन भारतीय आदर्श का प्रतीक बन कर ऊपर आता है, वह भारतीयों का प्रतिनिधित्व करता है और भारत के शील और सौजन्य को चार चाँद लगा देता है। उस समय लक्ष्मण क्या बोले, मानो, भारत की अन्तरात्मा बोल उठी! लक्ष्मण ने कहा—

"नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥"

भैया! नहीं कह सकता कि वह केयूर सीता का है या नहीं। मैं यह भी नहीं जानता कि ये कुण्डल सीता के हैं या नहीं! मैं तो सिर्फ उनके नूपुरों को पहचानता हूँ। जब मैं माता सीता के चरणों में नमस्कार करने के लिए जाता था, तो उनके पैरों पर ही मेरी निगाह रहती थी। इस कारण पैरों में पहने हुए नूपुरों को मैं पहचान सकता हूँ। मैंने उनके दूसरे गहने नहीं देखे हैं।"

यह कोई साधारण बात नहीं है, बहुत बड़ी बात है। मनुष्य का जीवन कितनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है? यह उक्ति इस बात का निर्देश करने वाली ऊंची मीनार है। आज के भारत-वासी जिस रूप में रह रहे हैं और अपनी संस्कृति बिगाड़ रहे हैं, वासना के वातावरण में और बाहरी विषाक्त हवाओं में जीवन गुजार रहे हैं, उनके पास लक्ष्मण की इस ऊँचाई को देखने और परखने के लिए उपयुक्त आँखें कहाँ हैं?

तो लक्ष्मण की जिन्दगी भी जिन्दगी थी। वे भी सीता से स्नेह रखते थे। उनके हृदय में भी सीता के प्रति आकर्षण था और इतना आकर्षण था कि सीता के लिए उतने राम नहीं रोये; जितने वे रोये।

और दूसरी ओर रावण का भी सीता के प्रति आकर्षण था। पर, वह बुरे विचारों और वासना के कारण विष मालूम होता है। उसमें वासना की गन्दगी है, उसमें विकारों की दुर्गन्ध है। आकर्षण के नाते लक्ष्मण और रावण दोनों एक ही केन्द्र पर खड़े हुए हैं। किन्तु, लक्ष्मण देवता था और रावण राक्षस। एक का आकर्षण विशुद्ध प्रेम के रूप में था, तो दूसरे का मोह के रूप में।

* * *

क्या कृषि आर्य-कर्म है ?

प्रश्न—जैनधर्म के विशुद्ध दृष्टि-कोण से खेती करना आर्य-कर्म है या अनार्य-कर्म ? इस पर विवेचनात्मक प्रकाश डालने की कृपा कीजिए।

उत्तर—जीवन, विचार के आधार पर बनता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्य-कर्म है या नहीं, इस पर विचार करने के लिए

सर्वप्रथम अपने-अपने अन्तःकरण से ही उत्तर मांगना चाहिए।

जो किसान दिन-भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन को जिसके पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को आप अनार्य-कर्मी कहें और उसे खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप आर्यकर्मी होने का दावा करें, यह अटपटी बात अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का गज डाल कर जरा देखें कि कृषि क्या ऐसी स्थिति में अनार्य-कर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त, शास्त्र प्रमाणों की ही यदि आवश्यकता हो, तो उनकी भी कमी नहीं है। उत्तराध्ययन-सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है, जो सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है। देवलोक के जीवन के पश्चात् उसकी क्या स्थिति होती है, यह बताने के लिए वहाँ यह गाथाएँ दी गई हैं—

> खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दास—पोरुसं।
> चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
> मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
> अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसोबले ॥

उपर्युक्त गाथाओं में कहा गया है कि जो साधक देवलोक में जाते हैं, वे जीवन का पुनः प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? जहाँ खेती लहलहाती होगी। सबसे पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की लहलहाती भूमि मिलेगी, जिसमें वह सोने से भी बढ़ कर अन्न उत्पन्न करेगा। यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत की गणना की गई है। इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाड़ी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाड़ी, खेत और जमीन अगर पाप का फल अनार्य-कर्म होता, तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यों कहते ? खेती करना अनार्य-कर्म है—इससे बढ़ कर नासमझी और मूर्खता और हो नहीं सकती।

* * *

भारत गुलाम क्यों बना ?

प्रश्न—भारत का अतीत उज्ज्वल रहा है। धर्म, संस्कृति और सभ्यता का तो यह आदि-स्रोत रहा है। इतना होते हुए भी भारत गुलाम क्यों बना ?

उत्तर—इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें एक हजार वर्ष पूर्व के कुछ वर्षों का इतिहास देखना होगा। और जब हम उन वर्षों का इतिहास देखते हैं; तो उसकी सही तस्वीर

हमारी आँखों के सामने नाच उठती है। वास्तव में, भारत के इतिहास के उन पन्नों में उसकी आचार-हीनता की कहानी लिपिबद्ध हुई दीख पड़ती है। उसके विचारों के साथ उसके आचार का सम्बन्ध टूट गया-सा प्रतीत होता है। अध्यात्म के क्षेत्र में विचार तो वैसे ही उच्च और महान् दीख पड़ते हैं; मगर आचार की दृष्टि से वह शुद्ध और सात्त्विक दृष्टिगोचर नहीं होता।

तो, आचार की दृष्टि से जब वह गिर गया, विश्व-बन्धुत्व का संदेश देने वाला भारत जब परस्पर के व्यवहार में ही प्रेम का त्याग कर बैठा, एक घर के दो भाइयों के बीच ही जब मन-मुटाव पैदा हो गया, भाई-भाई का दुश्मन हो गया, भाई-भाई में फूट पैदा हो गई, तो मौका देख कर परतन्त्रता उस पर अपना अधिकार जमा बैठी। विदेशियों के चंगुल में वह फँस गया। मोक्ष की दूरी को नाप डालने वाला भारत, आचार-हीन होते ही गुलाम बना दिया गया!

* * *